कहानी का रचना-विधान

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा एम.ए., डी.लिट्.
रीडर हिन्दी-विभाग,
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ।

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
बनारस

प्रकाशक
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
पो० बक्स नं० ७०,
ज्ञानवापी बनारस ।

प्रथम संस्करण
ई० स० १९५६

मूल्य : पाँच रुपया

मुद्रक
श्रीकृष्णचन्द्र बेरी
विद्यामन्दिर प्रेस लि०,
डी० १५/२४, मानमन्दिर,
बनारस ।

विषयानुक्रम

लेखक की अन्य कृतियाँ—

(१) हिन्दी की गद्य-शैली का विकास
(२) 'प्रसाद' के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन
(३) हिन्दी-गद्य के युग-निर्माता

दो शब्द

जैसे छोटे मुँह बड़ी बात अच्छी नहीं लगती उसी प्रकार इस छोटी-सी पुस्तक की कोई बड़ी भूमिका भी अच्छी न होगी। इस-लिए वक्तव्य को थोड़े में समेट लेना चाहिए। आजकल हिन्दी म आलोचना की धूम मची है। आलोचना का अनियंत्रित प्रसार देख-कर विचारशील अध्येता के मन में कभी-कभी यह आशंका होने लगती है कि क ीं ऐसा न हो कि आलोचना की भीड़ में आलोच्य ही विलुप्त हो जाय। इस प्रकार की आशंका के कई कारण हैं। एक ओर साहित्य-सर्जन की क्रिया कुछ दुर्बल होती जा रही है, दूसरी ओर अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्रीय विकास के कारण आलोचना वणिक्-वृत्ति का खिलौना बनती जा रही है। जिस अनुपात में कारयित्री प्रतिभा एक ओर मूच्छित होती जा रही है उसी अनुपात में दूसरी ओर भावयित्री प्रतिभा भी नाना प्रकार की हीनताओं से जकड़ी जा रही है। न तो उत्तम कोटि का साहित्य सामने आ रहा है और न उसके तत्वाभिनिवेश की कोई सत्प्रतिष्ठा ही देखने में आती है। पर आज की इस साहित्यिक गड़बड़ी में भी आशा के लिए कुछ भूमि बची है और उसी आधार पर सुधार-परिष्कार की योजना चल सकती है। आज भी मही सर्वथा बीर-विहीन हो गई हो ऐसी

बात नहीं है। इस गड़बड़ स्थिति में भी परमात्मा की देन की तरह अनेक उत्तम स्रष्टा और समीक्षक हमारे बीच में हैं और उनसे प्रेरणा ग्रहण कर, उनको आदर्श रूप में सामने ला कर अन्य अनेक और भी आएँगे—ऐसी आशा अवश्य होती है।

अपने समय की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर बाबू श्यामसुन्दर दास ने जिस युग में 'साहित्यालोचन' ऐसे ग्रन्थ का प्रणयन किया था और एक प्रकार से सैद्धान्तिक समीक्षा का सूत्रपात किया था आज हम उससे बहुत आगे बढ़ आए हैं; पर वस्तुस्थिति यही है कि यदि आज भी कोई विद्यार्थी पूछता है कि समीक्षा-सिद्धान्त की सामान्य जानकारी के लिए कहाँ से क्या पढ़ें तो उसी ग्रन्थ की ओर संकेत करना पड़ता है। इस ग्रन्थ के बाद शुद्ध-समीक्षा-सिद्धान्तों के मनन एवं चिन्तन की जैसी स्वस्थ परिपाटी विकसित होनी चाहिए थी, नहीं हो सकी है। समय-समय पर, बिना किसी योजना-क्रम के कुछ लोगों ने नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध इत्यादि के विषय में सैद्धान्तिक विचार अवश्य प्रस्तुत किए हैं परन्तु उनको लेकर निर्भ्रान्त मापदण्ड की स्थापना में अधिकाधिक योग नहीं मिल पाता। इस ढंग की कृतियों में मेरे मित्र पं० विनोद शंकर व्यास की रचनाएँ—'उपन्यास कला' और 'कहानी-कला' का अपना क्षेत्रीय महत्व है। क्या अच्छा होता इसी तरह अन्य विशेषज्ञ भी अध्ययन पूर्वक अपने विचार-विमर्श का अधिकाधिक परिष्कार करते, उत्तमोत्तम सिद्धान्त मूलक ग्रन्थों की रचना करते और समीक्षा के क्षेत्र को सम्पन्न बनाते। आज आवश्यकता इस बात की मालूम पड़ती है कि विषय के निपुण ज्ञाता भिन्न-भिन्न साहित्यिक रचना-प्रकारों का पृथक-पृथक स्वरूप निरूपण करें और उनके सैद्धान्तिक गठन की सारी मार्मिकताओं का पूर्ण उद्‌घाटन करें। इससे अध्येता और अध्यापक में तत्वाभिनिवेश की प्रेरणा जगेगी और वे सामान्यतः किसी भी देशी-विदेशी साहित्यिक कृति की सूक्ष्म मीमांसा करने में कुशल बन सकेंगे।

इसी विचार से प्रेरित होकर इस पुस्तक को लिखा गया है। कहानी-रचना के तत्वों की विवेचना में यथाशक्ति दूसरों से सार-संग्रह किया गया है; साथ ही अपनी ओर से भी स्वतंत्र चिन्तन की चेष्टा की गई है। विषय-निरूपण में कहाँ और कितनी सफलता मिल सकी है इसका निर्णय सहृदय विशेषज्ञ ही कर सकेंगे। स्थान-स्थान पर सिद्धान्तपक्ष को सुस्पष्टतया उपस्थित करने के विचार से हिन्दी के विभिन्न श्रेष्ठ कलाकारों की रचनाओं को साक्षी रूप में सामने रखा गया है। हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी अन्य भाषाओं में लिखे गए सिद्धान्त-चिन्तन से जो पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा पाता इसका कारण यही है कि उनके व्यावहारिक प्रयोग की सुन्दरताओं को वह निर्भ्रान्त रूप में समझ नहीं पाता। हिन्दी में कहानी-रचना का वैधानिक स्वरूप आज अपने निखार पर है; उसमें रचना-सम्बन्धी सभी प्रकार की विशिष्टताएँ मुखरित मिलती हैं। ऐसी अवस्था में आवश्यक मालूम पड़ा कि सिद्धान्त-प्रतिपादन में उसके लक्ष्य-रूप का लाभ उठाया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के विचार से अन्त में परिशिष्टों के भीतर कुछ कहानियों की संक्षिप्त आलोचना भी जोड़ दी गई है; साथ ही तीन भिन्न प्रकार की कहानियों का विश्लेषण भी उपस्थित किया गया है। आशा है, योग्य अध्येताओं को विषय के निरूपण में इनसे कुछ योग मिलेगा और वे इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों के अनुशीलन में भी यथा-संभव प्रवृत्त हो सकेंगे।

यहाँ मैं उन सभी विचारकों और लेखकों के प्रति अपना आदर और आभार प्रकट करता हूँ जिनकी कृतियों को पढ़कर मेरे भीतर विचार करने की योग्यता गठित हो सकी है और प्रेरणा मिल सकी है इस बात की कि मैं भी कुछ लिखूं। विशेषतः मैं कृतज्ञ हूं उन विलायती पंडितों का जिनकी कृतियों का बिना सहारा लिए विषय ही पूरा नहीं हो सकता था। अंत में मैं पाठकों से क्षमा-याचना करता हूँ—पुस्तक में मिलनेवाले उन अनेकानेक दोषों के लिए जो या तो कमजोर छपाई के कारण उत्पन्न हो गए हैं या स्वयं मेरे

लिखने की असावधानता से आ गए हैं। पुस्तक के जितने अंश को बोलकर लिखाया गया है उतने भाग में मैं देखता हूँ कहीं-कहीं वाक्य अथवा वाक्यांश कुछ अस्पष्ट-से रह गए हैं; और बात भी जितनी साफ होनी चाहिए थी नहीं हो पाई है। छपाई की भ्रष्टता से भी मैं कम परेशान नहीं हूँ, पर भविष्य में सब दोषों के मार्जन करने का आश्वासन देने के अतिरिक्त इस समय और कर ही क्या सकता हूँ।

औरंगाबाद,
काशी।
१८-२-५६

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

सामान्य परिचय

संसार के सभी साहित्यों में एक बात समान रूप से पाई जाती है, उनमें काव्य की प्राचीनता के साथ-साथ, कहानी-साहित्य का कोई न कोई रूप प्रचलित मिलता है।

रूप की प्राचीनता यदि हम केवल भारतवर्ष के प्राचीनतम साहित्य की ओर ही देखें तो यह मालूम पड़ेगा कि ऋग्वेद में जहाँ एक ओर काव्यात्मक पद्धति का प्रयोग हुआ है, वहीं दूसरी ओर कहानियों के भी आरंभिक रूप का समुदय वहीं से हुआ है। तब से लेकर आजतक संपूर्ण भारतीय साहित्य में इसका किसी न किसी पद्धति से उपयोग होता आ रहा है। समस्त प्राचीन काल का साहित्य कहानियों से भरा हुआ है। वैदिक काल में तो तत्त्व-निर्णय के प्रसंगों में जहाँ-कहीं आवश्यकता पड़ी है, कहानियों के सहारे बड़े-बड़े मर्म की बातें स्पष्ट कर दी गई हैं। वहाँ से लेकर बुद्ध और जैन धर्मों के प्रसार-काल तक कहानियों का प्रयोग एक विशेष पद्धति पर और एक विशेष अभिप्राय को लेकर होता आया है। इनका सारा साहित्य कथाओं से भरा पड़ा है। तत्कालीन संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार की रचनाओं की कमी नहीं है। कहानी-रचना की दृष्टि से भारतीय साहित्य प्राचीनतम प्रतिनिधि माना जा सकता है।

परन्तु वर्तमान काल में आकर कहानी के जिस रूप से हम परिचित हो रहे हैं, अथवा जिस रूप का अत्यधिक विकास-प्रसार हो रहा है उसमें न तो प्राचीन पद्धति का अनुसरण है, और न उसकी उपादेयता; और न उस सर्जना-प्रणाली से ही हमारा कोई संबंध रह गया है। समानता इस बात में अवश्य है कि जितना प्रचलन कहानियों का प्राचीनकाल में था, उतना आज भी है। प्रत्येक क्षेत्र में रचना के इस रूप का प्रेम दिखाई पड़ने लगा। शिक्षालयों की प्रतियोगिताओं और वाचनालयों से लेकर स्टेशनों और रेलगाड़ियों के साधारण यात्रियों तक इसका ऐसा प्रवेश हो गया है कि सभी चाहते हैं कि यदि कुछ कालक्षेप का प्रश्न सामने उपस्थित हो जाय तो कहानियों की पत्र-पत्रिकाओं से वह समय सरलता से काटा जा सकता है। कम से कम पढ़ा-लिखा जन भी सरल भाषा में लिखी साधारण कहानियों से अपना मनोविनोद कर लेता है। प्रत्येक भाषा और साहित्य में रचना का यह प्रकार इतना प्रिय और अनुरंजनकारी सिद्ध हो रहा है कि स्वतंत्रतः इसी रूप को लेकर न जाने कितनी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। जहाँ पढ़नेवालों की संख्या इतनी बढ़ रही है, वहीं लिखनेवाले भी बहुत निकलते आते हैं। कुछ लोगों की धारणा तो ऐसी हो रही है कि साहित्यिक अखाड़े में उतरने का यह सरलतम माध्यम है।

सर्वप्रियता

वर्तमान युग में समय का मूल्य बढ़ गया है। थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक उत्पादन और आभोग को महत्त्व मिल रहा है। अतएव नाटक और उपन्यास ऐसी विस्तारगामी रचनाओं को पढ़ने के लिए जितना समय अपेक्षित होता है, उतना सभी सरलता से नहीं दे पाते। एतावता आज कहानी ही अपनी लघुता के कारण सर्वप्रिय विषय बन रहा है। साहित्य के माध्यम से डाले जानेवाले जितने भी प्रभाव हो सकते हैं, वे रचना के इस

उपादेयता

प्रकार में अच्छी तरह से उपस्थित किए जा सकते हैं। चाहे सिद्धान्त-प्रतिपादन अभिप्रेत हो, चाहे चरित्रचित्रण की सुन्दरता इष्ट हो, किसी घटना का महत्त्व-निरूपण करना हो अथवा किसी वातावरण की सजीवता का उद्घाटन ही लक्ष्य बनाया जाय, क्रिया का वेग अंकित करना हो या मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करना इष्ट हो—सभी कुछ इसके द्वारा सम्भव है। रचनाकार में यदि प्रतिभा, शक्ति और कौशल है तो प्रगीत, उपन्यास, नाटक, सभी का आस्वादन इसके द्वारा करा सकता है। यही कारण है कि कहानियों के पठन-पाठन की अभिरुचि को इतना प्रश्रय मिल रहा है। इसी सिद्धान्त के आधार पर नाटकों के स्थान पर एकांकियों को और महाकाव्यों और खण्डकाव्यों के स्थान पर छोटे-छोटे मुक्तकों अथवा प्रगीतात्मक कविताओं को अधिक प्रवेश मिल रहा है। कथांश के लघुतम रूप का ही आभोग कहानी को मानना चाहिए। लम्बे-चौड़े आख्यानों और उपन्यासों में जिस प्रकार के अनेकानेक प्रभाव-समुच्चय बिखरे हुए भरे रहते हैं, उनको एक ही प्रवाह और संगति में पढ़ने से एक सुसंपूर्णता की तृप्ति तो अवश्य होती है पर उसमें एक प्रकार का उबास भी अनुभूत होता है। बार-बार सांस लेकर आगे बढ़ने की आकांक्षा बनी रहती है। कहानी में ऐसी कोई बात नहीं रहती। यही उसका सबसे बड़ा आकर्षण है।

रचना का यह रूप जहाँ इतना अधिक उपादेय और लोकप्रिय है, वहीं उसके स्वरूप और गुणधर्मों के विषय में नाना प्रकार की भ्रांतिमूलक मान्यताएँ समीक्षा के क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुकी हैं। इस भ्रांति के कारण देशी तथा विदेशी सभी प्रकार के लेखक हैं। खण्ड सत्यों के आधार पर और उपलक्षणों के फेर में पड़कर कोई कहता है कि कहानी गद्य का वह रचना भेद है जो पंद्रह या बीस मिनट में समाप्त हो जाय; अथवा एक बैठकी में जिसे

व्यापक भ्रान्ति

पढ़ा जाय[1]। इसी तरह कुछ लोग उपन्यास की तुलना में इसे खण्डकाव्य कहने लगते हैं; या जीवन का आंशिक उद्घाटन मानते हैं। उपन्यास की तुलना में इसके स्वरूप-निर्धारण का परिणाम यह होता है कि विभिन्न लेखक निराधार निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। यहाँ तक कि कुछ लोगों को यह आशंका होने लगती है कि कहानियों की प्रखर उन्नति का यह भी प्रभाव हो सकता है कि उपन्यासों के रचना-व्यापार में घाटा आए। वस्तुतः उपन्यास की तुलना में कहानी की बातचीत अथवा उन दोनों की तारतमिक समीक्षा स्वयं में गलत है। जहाँ तक इन दोनों रचना-प्रकारों का संबंध है, उनमें तत्वतः अन्तर है। दोनों रचनाओं की आधारशिलाएँ भिन्न-भिन्न हैं। दोनों के क्षेत्र और दोनों की उपादेयता पृथक्-पृथक् है। दोनों के स्वरूप संगठन का विधान भी आपस में मेल नहीं खाता। यदि उनकी प्रकृति का तात्विक विचार किया जाय तो दोनों में मौलिक विरोध है।

ऐसी स्थिति में कहानी के प्रसार से उपन्यास को अथवा उपन्यास के प्रसार से कहानी को कोई क्षति पहुँचेगी, ऐसी कोई स्थिति दिखाई नहीं पड़ती। कहानी के लक्षण और परिभाषा के विषय में भिन्न-भिन्न रचना-विशारदों और समीक्षकों का कहना अलग-अलग है। कोई इसके विषय को लेकर कुछ कहने लगता है, कोई उसके विस्तार नियंत्रण पर ही जोर देने लगता है,

मूल भेदकता

1. (i) A short story is a prose narrative requiring from half an hour to one or two hours in its perusal—The works of *Edgar Allen Poe. Vol. IV.* Chapter on—*Nathaniel Howthorne.*

(ii) H. G. Wells has suggested that a story should be of no greater length than enables it to be read in some twenty minutes—*A. C. Ward—Foundations of English Prose., pp.* 122.

कोई उपन्यास की तुलना में ही उसका अपनापन निरूपित करता है। इस प्रकार कहानी के विषय में सबके दृष्टिकोणों में किसी न किसी प्रकार की एकांगिता दिखाई पड़ती है। इसके कारण सत्या-सत्य निरूपण में बड़ी बाधा उठ खड़ी होती है। यदि निर्भ्रांत होकर अनेकानेक कहानियों के आधार पर उनकी प्रकृति का विचार किया जाय और उसकी मूलभूत भेदकता को सामने रखा जाय तो केवल दो पार्थक्य-विधायक गुणधर्म ऐसे दिखाई पड़ेंगे, जिनके आधार पर कोई भी विचारशील समीक्षक कहानी को अन्य रचनाप्रकारों से सर्वथा पृथक् कर दे सकता है और उलझन के लिए कोई स्थान न दिखाई पड़ेगा

(१) विषय का एकत्व अथवा मूलभाव की अनन्यता

(२) प्रभाव-समष्टि अथवा प्रभावान्विति

मूलभाव

कहानी में सबसे ज्यादा महत्त्व की वस्तु विषय का एकत्व या विषयगत एकदेशीयता है। यह एकत्व किसी भी क्षेत्र का हो सकता है। भाव, विचार, घटना, चरित्र, किसी भी विषय में क्यों न हो, लेखक का ध्यान किसी एक स्थल पर केन्द्रित रहता है। किसी व्यक्ति के चरित्र की कोई एक भंगिमा, कोई एक वृत्ति यदि कहानीकार को दिखाई पड़ी हो तो उसी को लेकर वह कहानी का स्वरूप संगठित कर सकता है। कहीं-कहीं किसी घटना का ऐसा स्वरूप दिखलाई पड़ सकता है, जो भावुक के हृदय में अपना घर कर ले। किसी स्थान विशेष का वातावरण ऐसा हो सकता है, जिसके भीतर किसी प्रकार की सजीवता उत्पन्न कर देने से वह प्राणधारण कर ले अथवा बोल उठे। इसी तरह जीवन के विस्तार में न जाने कितनी समस्याएँ और परिस्थितियाँ आती हैं, जिनसे नाना प्रकार के सत्य और सिद्धांत निकाले जा सकते हैं। किसी व्यक्ति, स्थान, विषय में यदि चित्त को स्पन्दित कर देने की—मस्तिष्क को मथित कर देने की कुछ भी शक्ति दिखाई पड़ती है तो कहानीकार के लिए पर्याप्त मसाला एकत्र हो जाता है। किसी

एक विषय, तथ्य, अनुभूति और पदार्थ के विषय में कलाकार की एकान्तिक निष्ठा ही कहानी को सजीवता प्रदान करती है। सम्पूर्ण कहानी के अन्य सभी तत्त्व कथानक, संवाद, चारित्र्य, देशकाल इत्यादि जो कुछ भी उसमें रहेगा वह सब साधन रूप में रहेगा। साध्य रूप में केवल एक ही प्रतिपाद्य होगा; वही संपूर्ण सर्जना का केन्द्रविन्दु होगा। इस आधार पर कहानीकार से पूछा जा सकता है कि उसकी रचना का क्या केन्द्र-विन्दु है? साथ ही अध्येता और पाठक से प्रश्न किया जा सकता है कि किसी कहानी का क्या मूलभाव है; यदि इनमें से कोई वर्ग एक से अधिक की ओर बढ़े तो समझ लेना चाहिए कि कहानी में दोष है, अथवा इस विषय की रचना-प्रक्रिया का उसे बोध नहीं है।

कहानी में यों तो यथास्थान विभिन्न तत्त्व सन्निविष्ट रहते हैं, परंतु उनकी संयुक्त गति किसी एक इष्ट के स्थापन में लगी रहती है। यदि भाव की व्यंजना ही इष्ट है, तो पात्र उसी प्रकार के भाव में डूबा दिखाई पड़ेगा। उस भाव की सिद्धि के लिए, पात्र के चरित्र की जो वृत्ति सबसे अधिक अनुकूल होगी, उसकी गति-विधि का सामान्य परिचय देकर परिस्थितियों को वह इस प्रकार सजा देने की चेष्टा करेगा कि उस भाव का एक उद्दीप्त स्वरूप प्रेरणा प्रदान करने लगे। सारा वातावरण उसी वृत्ति विशेष की सजीवता को अंकित करने में लगा दिखाई पड़ेगा। संवाद भी ऐसे ही होंगे कि उसी के स्वरूप का बोध कराएँ अथवा उसी को अधिकाधिक स्फुटित करने में योग दें। पात्र उन संवादों का योग लेकर, या तो अपने आंतरिक चिंतन को प्रकट करेगा अथवा क्रिया के वेग से उस भाव की ओर बढ़ेगा। इस प्रकार पात्र की क्रियाशीलता, वातावरण की सजावट उस भाव या वृत्ति को इस रूप में सामने उभाड़ कर रख देगा कि पाठक का हृदय झनझना उठे, अथवा माधुर्य में पग उठे। सारी कहानी को पढ़कर उसके हृदय पर उसी का प्रभाव स्थापित हो जाय। सच्ची कहानी वही है जिसके अंत में आकर पाठक

किसी विचार और भावना की लहरों में डूबता-उतराता दिखाई पड़े, अथवा स्तम्भित रहकर कुछ कल्पना और अनुमान में आविष्ट हो जाय।

कविता के क्षेत्र में किसी प्रगीतात्मक रचना को पढ़ने पर पाठक की सारी प्राणमयी चेतना जैसे एकोन्मुख होकर प्रतिपाद्य के रसास्वादन में डूब जाती है और उस कविता का सामूहिक प्रभाव पढ़नेवाले के ऊपर छा उठता है, अथवा जैसे घंटे की टन्नाहट के उपरान्त भी कुछ देर तक उसकी झंकृत लहरें कानों में एक सानुनासिक ध्वनि भरे रहती हैं अथवा जैसे बिजली की कड़क का आतंक चित्त को थोड़ी देर के लिए बाँध देता है, उसी प्रकार किसी कहानी का मलभाव भी कुछ देर के लिए हमको अपने में डुबाए रहता है। यदि कहानी में चरित्र की किसी वृत्ति विशेष का दृप्त स्वरूप ही चित्त को सबसे अधिक द्रवित करता है तो फिर कोई ऐसी दूसरी ज्ञातव्य बात कहानी में नहीं प्रवेश पा सकती जो उस द्रवता को किसी रूप में भी प्रभावित करे। तात्पर्य कहने का यह है कि कहानी हमारे सम्पूर्ण संवेगों को, हमारी सम्पूर्ण चेतना को और साथ ही हमारी संपूर्ण बौद्धिकता को पूर्णतया एकोन्मुख बना देती है। जब तक यह स्थिति नहीं आती तब तक कहानी का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता कि एक ही रचना में हमारा ध्यान चरित्र की ओर भी जाए, घटना की ओर भी उन्मुख हो, और देशकाल के चित्रण की ओर भी खिंचे। रचना के इस प्रकार में विषय की अनेकता को सर्वथा वर्ज्य मानना चाहिए।

एकोन्मुखता

किसी विषय की ऐकान्तिक निष्ठा को कहानी की मूल वृत्ति मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सब सिद्धान्त गलत हैं, जिनके अनुसार कहानी वह है जो एक ही बैठक में पढ़ी जाए अथवा जिसके पढ़ने में थोड़ा-सा समय लगे। ऐसी भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, और उनमें कहानी तत्त्व रहता है, जिनका विस्तार पचासी पृष्ठों

विस्तार

तक चला जाता है, जैसे **'प्रेमचन्द'** की **'दो सखियाँ'** अथवा **'प्रसाद'** की **'आंधी'** अथवा **शरत बाबू** की बहुत सी कहानियाँ हैं। इन कहानियों में विस्तार-भार कुछ भी हो लेकिन मूल भाव सदैव एक ही रहता है। वहाँ सारा विस्तार-भार केन्द्रित मिलता है, किसी एक प्रतिपाद्य पर ही। इसी तरह छोटे उपन्यास भी हो सकते हैं, जैसे **जैनन्द्रकुमार** का **'त्यागपत्र'** अथवा **'अरक्षणीया'** जैसे शरत बाबू के छोटे-छोटे अनेक उपन्यास। ये काया में छोटे होकर भी उपन्यास ही रहेंगे, कहानी नहीं हो सकते, क्योंकि इनका प्रतिपाद्य एक नहीं है।

संक्षेपरूप में निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रसार-विस्तार को, अथवा कुछ काल में ही पढ़ी जानेवाली विशेषता को कहानी का पार्थक्य-विधायक धर्म नहीं कहा जा सकता। इसी तर्क पर कहा जा सकता है कि अनेक प्रभावों की समष्टि वहन करनेवाले जो रचना के प्रकार हैं—नाटक और उपन्यास—वे मूलतः कहानी से पृथक् हैं। उपन्यास और नाटक की तरह कहानी में न तो आधिकारिक कथा के साथ अन्य कोई प्रासंगिक कथा आ सकती है और न उसमें चरित्र की अनेकरूपता झलकाई जा सकती है। इस विषय में अनेक उपलक्षणों से उलझते हुए भी **हडसन**[१] का निर्णायक कथन ही सर्वमान्य और निर्विवाद मालूम पड़ता है। **प्रेमचन्द**[२] जी ने भी अन्य अनेक उपलक्षण संबंधी

---

१. "A short-story must contain one and only one informing idea, and that the idea must be worked out to its logical conclusion with absolute singleness of aim and directness of method."

W. H. Hudson,—*An Introduction to the Study of Literature, Second Edition, pp.* 454.

संक्षिप्त रूप से गल्प एक कविता है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य होता है।

—प्रेमचन्द : गल्प-समुच्चय, द्वितीय संस्करण, पृ० २।

वशेषताओं का उल्लेख करते हुए अपने ढंग से कहानी के इस भेदक तत्त्व को स्वीकार किया है।

आरम्भ में कहानी की जिन दो भेदक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है—विषय का एकत्व और प्रभावान्विति, उन दोनों में साध्य-साधन संबंध है। प्रथम साधन है और द्वितीय साध्य। विषय का एकत्व जिस समय एकोन्मुख होकर बुद्धि और हृदय को स्पन्दित करता है, उस समय स्पन्दित करनेवाली शक्ति प्रभावान्वित ही होती है। इसलिए कहा जा सकता है कि कृतिकार विषय को इस क्रम से उपस्थित करता है कि अन्त तक आते-आते, स्थान-स्थान पर उत्पन्न होनेवाले विभिन्न प्रभाव इस प्रकार सिमिटते और एक-दूसरे से संपृक्त होते चले जाते हैं कि उनका एक सम्मिलित **प्रभाव-व्यूह** तैयार हो जाता है। समाप्ति-स्थल पर आकर उन प्रभावों की एक समष्टि बन जाती है और वे सभी आकर एक स्थल पर अन्वित हो उठते हैं। इसी को प्रभावों की अन्विति या समष्टि माननी चाहिए और यही कहानी की सबसे बड़ी विभूति होती है। अंगरेजी के किसी लेखक ने इसी को प्रभावान्विति[1] कहा है और किसी लखक ने समष्टिप्रभाव[2]।

प्रभावान्विति

इस शक्ति को ठीक से समझने, समझाने के लिए दो एक उदाहरण आवश्यक हैं—एक दुष्ट व्यक्ति किसी निरपराध को एक

---

1. *Unity of Impression* : *Brander Mathew—The Philosophy of Short Story*:—"A true short-story differs from the novel chiefly in its essential—Unity of Impression—in a far more exact and precise use, the word short-story has a unity, which a novel cannot have it."

Encyclopaedia Britainnica, Vol. XX. pp. 580.

2. *Effect of Totality.*

थप्पड़ मार देता है; देखनेवाला जब मार खानेवाले का कोई अपराध नहीं देखता तब वह अच्छी तरह समझ लेता है कि उस दुष्ट व्यक्ति ने केवल उद्दंडता और क्रूरता के कारण ही उसको मारा है। इस पर द्रष्टा उस दुष्ट आदमी को कुछ गिरा हुआ व्यक्ति मानता है। कुछ दूर चलकर, अथवा कुछ समय के बाद वही दुष्ट यदि किसी जर्जर और दुखी वृद्धा को पीटता दिखाई पड़ता है तो उस समय उसी द्रष्टा को उस पर बड़ा क्रोध उत्पन्न होता है। कालान्तर में वही दुष्ट व्यक्ति यदि पुनः किसी गरीब परिवार को बिल्कुल नष्ट कर डालने पर उतारू दिखाई पड़ता है तब वही पुराना दर्शक इस सीमा पर आकर उस दुष्ट के भयंकर अत्याचार से कुपित और क्षुब्ध होकर यदि डंडा लेकर दौड़ पड़े—उसे मारने के लिए—तो उसके इस क्रियावेग के मूल में प्रभावान्विति काम करती समझी जाएगी। पहली बार उस दुष्ट के आचरण से द्रष्टा के चित्त पर जो छाप पड़ी थी, वह सामान्यतः हल्की थी। दूसरी बार पहली छाप की जो आवृत्ति हुई उसमें दूसरी बार की छाप के गर्भ में पहली बार की छाप सिमटी वर्तमान मानी जायगी। इसी तरह तीसरी बार की नर-पिशाचिता देखकर द्रष्टा के चित्त पर जो छाप पड़ती है और जिससे प्रेरित होकर उसका क्षोभ सक्रिय हो उठता है, उसके गर्भ में क्रम से पहली दोनों छापें अंतर्भुक्त माननी चाहिए। इसीसे चित्त में उद्वेग और तज्जनित क्रिया-प्रेरकता उत्पन्न हुई समझी जायगी।

इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण लिया जा सकता है। किसी देश-भक्त को देश के लिए कष्ट उठाते, यातनाएँ सहते देखकर हमारे चित्त में उसके प्रति आदर उत्पन्न होगा। आगे चलकर यदि उसी को देश के लिए अपना सारा राजपाट उत्सर्ग करते हम देखेंगे तो विस्मय-विमुग्ध हो उठेंगे। इस प्रकार विस्मय-विमुग्ध होन में अवश्य ही पहलेवाला आदर-भाव उसमें सन्निविष्ट रहेगा। आगे चलकर यदि वह देशभक्त देश की आन पर अपना बलिदान करता दिखाई पड़े तो उसमें देवत्व का आभास पाकर हम गद्‌गद

चित्त होकर उसकी चरणधूल यदि बटोरने लगें तो हमारी इस क्रिया में पूर्व के सब प्रभाव अन्वित दिखाई पड़ेंगे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पूर्व के हल्के अथवा गहरे प्रभाव यदि एकत्र होते जायँ तो प्रभावों की एक ऐसी सामूहिकता तैयार होगी, जिससे हृदय में तीव्र संवेदनशीलता भर उठेगी। वस्तुत: यदि देखा जाय तो कहानी में इसी प्रकार के प्रभाव-समष्टि की आकांक्षा रहती है।

एकोन्मुख प्रभावान्विति तरल चित्त को इस प्रकार आबिद्ध करती है, जसे सूई की नोक। यदि किसी कोमल आधार पर सूई को रखकर सेरभर का वजन उस पर पटक दिया जाय तो जो फल दिखाई पड़ेगा वह वैसा नहीं होगा जैसा कि सेर भर की वजन की कोई चौड़ी चीज पटक देने से हो सकता है। किसी नुकीली चीज को धँसाने में जैसी सफलता मिल सकती है, वैसी अन्य किसी भोथी चीज को धँसाने में नहीं मिल सकती। उक्त प्रभावान्विति नुकीली से भी नुकीली चीज की तरह हृदय को आबिद्ध कर देती है। इसीलिए कुशल समीक्षक समझने की चेष्टा करता है कि किस कहानी में कितनी चुभन (Punch) है। यह चुभन या संवेदन प्रभावान्विति के माध्यम से प्रतिफलित होती है। इसलिए कहानी का परम साध्य तत्त्व समष्टिप्रभाव अथवा प्रभावान्विति ही होती है।

इस प्रकार कहानी के पार्थक्य-विधायक उक्त दोनों गुणधर्मों का निरूपण हो जाने पर आकांक्षा रह जाती है, एक ऐसी व्यापक परिभाषा बनाने की जिसके भीतर कहानी की सम्पूर्ण विशेषताएँ भरी जा सकें। इस विषय में पहली बात तो यह है कि कहानी गद्य-रचना का एक भेद विशेष है। सामान्यत: उसे लघुप्रसारगामी होना चाहिए। उसमें मूलत: किसी एक ही प्रतिपाद्य का अभिनिवेश हो सकता है। विकास क्रम के अनुसार प्रभाव की एक उत्कर्षोन्मुखी समष्टि उत्पन्न होनी चाहिए। प्रभावान्विति से अनुप्राणित होकर संवेदनशीलता का रूप स्फुट होना चाहिए। यदि इन सब बातों

परिभाषा

का एक साथ विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि कहानी गद्य-रचना का कथा-संपृक्त वह स्वरूप है जिसमें सामान्यतः लघु विस्तार के साथ, किसी एक ही विषय अथवा तथ्य का उत्कट संवेदन इस प्रकार किया गया हो कि वह अपने में सम्पूर्ण हो और उसके विभिन्न तत्त्व एकोन्मुख होकर प्रभान्विति में पूर्ण योग देते हों।

कहानी-

उपन्यास-

नाटक-

एकांकी

कहानी और उपन्यास की भिन्नता एक उदाहरण के द्वारा सरलता से समझाई जा सकती है। यदि बंद दर्वाजे के भीतर से एक छोटे से छिद्र के सहारे, बाहर के किसी उपवन में ताका जाय तो गुलाबों का एक राजा अपनी हरी-हरी डाल पर मस्ती से झूमता दिखाई पड़ेगा। वह अपनी उत्फुल्लता और कोमल रमणीयता में आपूर्ण खिला मिलेगा। इसके उपरान्त यदि दर्वाजा पूरा खोल दिया जाय तो विशाल उपवन का मनोहर दृश्य सामने खुल पड़ेगा। अवश्य ही उस उपवन के व्यापक प्रसार में वह गुलाब भी एक तरफ दिखाई पड़ेगा। इस उदाहरण में छिद्र के माध्यम से दिखाई पड़नेवाला गुलाब, कहानी के रूप में कहा जायगा और उपवन की दिव्य सामूहिकता उपन्यास की प्रतिनिधि मानी जायगी। दोनों ही अपने दो रूपों में सर्वथा पूर्ण हैं। इस उदाहरण के आधार पर यह आशंका उठाई जा सकती है कि उसमें सादृश्य तो कुछ उसी प्रकार का है, जैसे खण्ड-काव्य और महाकाव्य का सम्बन्ध अथवा जीवन के एक अंश के साथ सम्पूर्ण आयु का विस्तार, पर इस प्रकार की शंका के लिए वस्तुतः कोई स्थान नहीं है। खण्ड जीवन को देख लेने के बाद

कहानी और उपन्यास

आगे की बात जानने की आकांक्षा उठती है। खण्डकाव्य के किसी कथानक को जान लेने पर भी उसके नायक के और अधिक व्यापक स्वरूप को समझने की इच्छा होती है। पर उदाहरण का गुलाब अपने में सर्वथा पूर्ण था। छिद्र में से जब उसके दर्शन हुए, तब उसके स्वरूप-बोध, सौंदर्य, और उत्फुल्लता को समझने में और किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं रह गई थी। इसलिए वह अपने में सर्वथा पूर्ण और स्पष्ट है। इस बात की आकांक्षा नहीं थी कि वह व्यापक उपवन के दृश्य के बीच में रहे तभी उसकी सुन्दरता और उत्फुल्लता ठीक से समझी जा सकती है। इसी तरह कहानी में जो विषय का एकत्व मिलता है, वह अपने में ऐसी समग्रता भरे रहता है कि एक विशेष प्रकार का संवेदन उत्पन्न करने में सफल होता है और उसके पूर्वापर को जानने का कोई आग्रह उपस्थित नहीं होता।

अब इस प्रसंग में उपवन के सामूहिक दृश्य का विचार करने से यह प्रकट होगा कि उसमें हमारे चित्त को आह्लादित करनेवाले, हमारी दृष्टि को उलझानेवाले अन्य अनेक रमणीय और आकर्षक स्थल और विषय हो सकते हैं। किसी ओर सुमनों से लदी हुई मालती की लता झूमती दिखाई पड़ेगी; किसी ओर भिन्न-भिन्न रंग और आकार-प्रकार वाले गुलदाउदी के गमले सजाए मिलेंगे, किसी ओर जलाशय की हरीतिमा में विहार करने वाले कमल और हंस सामने आएँगे। इस प्रकार उस उपवन के विस्तार में विषय की विविधता भरी मिलेगी। अब यदि अलंकार शैली से पृथक् होकर वस्तुस्थिति का यथार्थ विचार किया जाय तो थोड़े में कहा जा सकता है कि कहानी में जो विषय का एकत्व प्रतिपाद्य होता है, उससे सर्वथा पृथक् उपन्यास में विषय का वैविध्य लक्ष्य होता है। एक में केन्द्र का एक ही बिन्दु रहता है, और दूसरे में अनेकानेक आलोक पुंज किसी क्रम विशेष से दिखलाई पड़ते हैं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अति प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में यदि हम देखें तो लहनासिंह की उदात्त अनुराग-भावना अन्त में

ऐसी उत्सर्गमयी दिखाई पड़ती है कि मनुष्य में देवत्व का विकास देखकर हम गद्‌गद् हो उठते हैं। सारी कहानी में केवल यही एक मूल बात है, जिसमें पूर्व के सारे प्रसार, प्रभावान्वित हो उठे हैं। लहनासिंह की अनुराग-वृत्ति का गुलाब ऐसा खिला दिखलाई पड़ता है कि पाठक की दृष्टि उसी पर जमी रह जाती है। वह उसी की सुन्दरता में डूब जाता है। सात्विक प्रेम की प्रेरकता से उद्भूत और लहनासिंह के चरित्र-सौंदर्य से संवलित होकर जो उत्सर्ग की महिमा अन्त में मुखरित हुई है वही कहानी का यथार्थ प्रतिपाद्य और मूलभाव है।

इसी क्रम से चल कर यदि हम प्रेमचंद के 'गोदान' में देखें तो बात कुछ दूसरी ही दिखाई पड़ेगी। वहाँ एक ओर हम कुछ समय के लिए नगर में रहकर नागरिकों की सामान्य गतिविधि और क्रिया-कलापों को देखते हैं; भिन्न-भिन्न प्रकार की उनकी मनोवृत्तियों का अध्ययन करते हैं; परिणाम रूप में किसी पात्र की कठिन समस्याओं का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है; किसी का चरित्र हमें प्रिय मालूम पड़ता है; और किसी के दार्शनिक आदर्श से हमारी बुद्धि जाग्रत होती है। इस प्रकार एक ही क्षेत्र के अनेक विषयों को लक्ष्य बनाए हम बहुत दूर तक प्रभाव बटोरते चले जाते हैं। इसके उपरांत यदि कहीं ग्रामीण वातावरण में पहुँच जाते हैं तो किसी जंगली लड़की की निःस्वार्थ सेवा विस्मय-विमुग्ध कर देती है। दूसरी ओर धनिया के कर्कश स्वभाव के भीतर कोमल वात्सल्य को पाकर उसकी ओर आश्चर्य से देखने लगते हैं। अपने जीवन की नित्य नई कठिनाइयों से युद्ध करते हुए कुटुम्ब-वत्सल, धर्म और समाजभीरु होरी को जब हम देखते हैं तो हमारे भीतर तीव्र अनुकम्पा का भाव उत्पन्न होता है। साथ ही ग्रामीण वातावरण की सजीवता भी हमें अपनी ओर खींच लेती है।

इस प्रकार 'गोदान' में एक ही पाठक पर अनेक विषयों का अनेक रूप में प्रभाव पड़ता दिखाई पड़ता है और समूचे उपन्यास में

विषय का नानात्व ही उसके ध्यान देने की वस्तु बन जाती है। एक ही रचना में अनेक प्रकार के रंगीन चित्र, विविध भावनाएँ और अनेकमुखी वृत्तियाँ अपना-अपना काम करती हुई दिखाई पड़ती हैं। यही विषय का वैविध्य और जीवन की अनेकपक्षता, आधिकारिक कथा के साथ विभिन्न अवान्तर और प्रासंगिक कथाएँ और चरित्र के विकासक्रम का लम्बा प्रसार उपन्यास का लक्ष्य होता है। इसकी तुलना में कहानी बहुत छोटी और परिमित दौड़ की मालूम पड़ती है। उसमें न तो कथा का स्वच्छन्द प्रसार चल सकता है, न चरित्र के उतार-चढ़ाव का पूरा ब्यौरा मिल सकता है, न वातावरण के विविध पक्षों का ही स्वरूप सामने लाया जा सकता है और न देशकाल का व्यापक विवरण ही उपस्थित होता है। अपने पक्ष की व्यापकता के कारण उपन्यास का साहित्यिक रचनाओं में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। 'गोदान' की तरह यदि कोई उपन्यास सामने आ जाय तो किसी देश, जाति और संस्कृति का पूरा विवरणात्मक परिचय मिल जा सकता है। इस प्रकार की कोई बात किसी एक कहानी में सम्भव नहीं हो सकती।

थोड़ में यदि कहानी और उपन्यास का तारतम्य निरूपण करना हो तो कहा जा सकता है कि कहानी यदि अपने एकोन्मुख समष्टि-प्रभाव के माध्यम से हमारे चित्त को पूर्णतया झंकृत और आन्दोलित करके हमें अनुमान, कल्पना और जिज्ञासा के उन्मुक्त द्वार पर ला खड़ा करती है, तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रों की झाँकी देकर सारे रहस्यों और वस्तुस्थितियों से परिचित कराकर हमारे भीतर एक पूर्णताविधायक संतुष्टि उत्पन्न कर देता है। आगे किसका क्या होगा, इसके विषय में किसी प्रकार का जिज्ञासा-कुतूहल पाठक के मन में नहीं रह जाता। हम अच्छी तरह जान लेते हैं कि कौन कहाँ से चला और कहाँ पहुँचा है, अथवा किसी चढ़ाव का उतार क्या है? अथवा किसी समस्या का समाधान क्या हो सकता है? किसी प्रश्न का उत्तर कैसा बन पड़ा है? सारांश यह है कि

उपन्यासकार अपने पाठक से किसी प्रकार की आकांक्षा-याचना नहीं करता। जो कुछ ज्ञातव्य है, उसे स्वयं इस प्रकार उपस्थित कर देता है कि पाठक को अपनी ओर से कल्पना और अनुमान करने को कुछ बचता ही नहीं; इसके ठीक विरुद्ध कहानीकार अपनी ओर से तो देने को देता कम है पर पाठक से प्राप्त करना चाहता है, बहुत अधिक। वह थोड़ी दूर पाठकों के साथ दौड़कर चलता है, और दौड़ की गति के तीव्रतम होते ही अपने स्वयं रुक जाता है और पाठक दौड़ता असीम तक चला जाता है। उपन्यास में पाठक का ध्यान पीछे की ओर जाता है, वह पीछे मुड़कर देख लेता है कि कहाँ क्या-क्या और कैसा देखा जा चुका है और वह समझ लेता है कि उसके सामने सम्पूर्ण ज्ञातव्य स्पष्ट है। वह जो कुछ चाहता था सब पा गया है। उसके मस्तिष्क में सब कुछ उपस्थित रहता है। कहानीकार के साथ स्थिति भिन्न होती है, वह अपने पाठक की बुद्धि को कहानी के भीतर से उछाल देता है—स्वच्छन्द खुले मैदान में। वह कथा की यथार्थ वस्तु-भूमि में से उचकाकर उसे अनुमान की हवा में छोड़ देता है। इस प्रकार भी कहानी और उपन्यास में तात्त्विक अन्तर है।

यह प्रायः देखा गया है कि जिन लोगों ने कहानियाँ लिखी हैं, उन्होंने उपन्यास भी लिखे हैं। इस तरह जिन लोगों ने उपन्यास लिखे हैं, उन लोगों ने कहानियाँ भी लिखी हैं। प्रेमचन्द ने यदि तीन-चार सौ कहानियाँ लिखीं तो एक दर्जन उपन्यास भी लिखे हैं। 'प्रसाद' जी ने कहानियाँ भी लिखीं और उपन्यास भी। इसी तरह वृन्दावनलाल ने कहानियाँ भी लिखी हैं और उपन्यास भी। इस प्रकार के लेखकों में एक बात का तो विचार स्पष्ट रूप से हो ही सकता है कि मूलतः कौन कहानी-लेखक है और कौन उपन्यास-लेखक। यदि लेखक की प्रवृत्ति कथानक को बड़ा करने की ओर हो, अथवा कहानी के भीतर कहानी भरने की आकांक्षा दिखाई पड़े, अथवा देशकाल की कथा को व्यापक भूमि पर उपस्थित करने की ओर उसकी अभिरुचि हो तो समझना चाहिए

कि उसकी मौलिक वृत्ति उपन्यास की ओर है। उदाहरण के रूप में यह विशेषता देखनी हो तो 'अज्ञेय' की कहानियों में देखी जा सकती है। कथानक के भीतर कथानक रखने की प्रवृत्ति उनमें दिखाई पड़ती है, यह 'जयदोल' शीर्षक कहानी से स्पष्ट है। इस प्रकार एक कथानक की प्रसारभूमि पर दूसरे कथानक की अवतारणा यह सूचित करती है कि कथानक की व्यापकता की ओर लेखक का विशेष आग्रह है। यह स्थिति उनको मूलतः उपन्यासकार घोषित करती है।

कथानक के साथ-साथ यही बात और क्षेत्रों में भी कही जा सकती है। जिस लेखक में चरित्र के उतार-चढ़ाव दिखाने की ओर बढ़ने की बात दिखाई पड़े, अथवा एक ही पात्र की चरित्र-संबंधी विविध भंगिमाओं की ओर उसका ध्यान यदि आकृष्ट होता मिले, अथवा देशकाल के संबंध में अधिक तन्मयता के साथ वह विस्तृत विवरण देता दिखाई प ता हो तो समझना चाहिए कि उसकी कहानी-रचना कुछ छितराई सी हो जायगी। यह स्थिति उपन्यास में तो ठीक होगी, पर कहानी में नहीं। इसलिए कहा जा सकता है कि ऐसा लेखक उपन्यास को अपना विषय बनाए। कहानी में तो यह आवश्यक होगा कि इधर-उधर से सजाकर बात को ऐसे ढंग से उपस्थित करे कि सब कुछ एकत्र सिद्ध होता मालूम पड़े। यदि किसी लेखक में बात को बहुत ठोस बनाकर कहने की प्रवृत्ति मिलती है, अथवा उसमें कथानक कम और चरित्र का उभाड़ अधिक दिखाई पड़े, अथवा अनुमान और कल्पना जगाने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई दे तो समझना चाहिए कि उसमें कहानी लिखने की प्रतिभा है। चतुर से चतुर संपादक और सुधारक भी उसकी रचना में से कुछ निकाल सकने में असमर्थ हो जाय—इतना साभिप्राय कसा हुआ विषय का एकत्व कहानी में होना चाहिए। ऐसी बात उपन्यास में आवश्यक नहीं कही जा सकती। वहाँ तो विस्तार-परिचय ही मूल ध्येय रहता है, और विस्तार-विवरण को अवश्य ही कुछ काट-छाँट

कर छोटा किया जा सकता है। इस प्रकार जो वस्तु काँट-छाँट कर छोटी की जाने पर भी अपने विषय की संगति को अक्षुण्ण बनाए रखे उसे उपन्यास कहना चाहिए, कहानी नहीं।[1]

नाटक के साथ यदि कहानी की तुलना की जाय तो दो बातें स्पष्ट दिखाई पड़ेंगी:—(१) विषय के एकत्व के विचार से कहानी और नाटक की प्रकृति भिन्न है।

कहानी और नाटक

(२) प्रभावान्विति के आधार पर दोनों रचनाएँ एक वर्ग की हैं। इस प्रकार एक बात में समानता और दूसरे में भिन्नता मिलेगी। किसी एक नाटक और किसी एक कहानी की प्रवृत्तियों का यदि विश्लेषणात्मक ढंग से विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में विषय का वैविध्य तो स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है। कहाँ राजदर्बार, कहाँ उद्यान-क्रीड़ा; एक ओर गुरुकुल का वातावरण, तो दूसरी ओर युद्ध का विशद वर्णन; एक ओर प्रेम का मधुर संचार तो दूसरी ओर नीति-विषयक कतर-ब्यौंत; कहीं चरित्र विषयक बारीकियों की छानबीन तो कहीं क्रियाओं के वेग का चित्रण दिखाई पड़ता है। सभी दृश्य अपने-अपने ढंग से हमारे चित्त को या तो उद्विग्न करते हैं, या तो प्रसन्न। सारांश कहने का यह है कि समूचे नाटक में अनेकानेक विषय ऐसे हैं जो अपने में महत्त्वपूर्ण हैं। अवश्य ही ये सब एक व्यापक भाव में आकर केन्द्रित होते हैं और प्रभावान्विति उत्पन्न करते हैं। यह व्यापक भाव एक पात्र के जीवन का चरम साध्य है; उसके जीवन का लक्ष्य और उसके सम्पूर्ण कृतित्व का परिणाम है। उस पात्र की गतिविधि के द्वारा जिस सामूहिक भावदशा की ओर नाटक के सब तत्त्वों को मिला जुलाकर ले जाया गया है, वही नाटक में प्राप्त होनेवाली प्रभावान्विति का गन्तव्य मार्ग है।

---

1. **Berry Pain :** *The Short Story, pp.* 45-46.

प्रथम बार जो चन्द्रगुप्त हमारे सामने आता है, वह अपने अभिन्न मित्र के ऊपर तने हुए खड्ग के प्रतिकार में सन्नद्ध है। हम उसके इस निर्भीक क्रियावेग से अभिभूत हो उठते हैं। आगे चलकर वह अन्धकारपूर्ण कारागृह में पड़े हुए अपने गुरु को जिस क्रियागत वीरता से छुड़ाता है, उससे हम आश्चर्य चकित हो जाते हैं। फिर तो वही चन्द्रगुप्त निरंतर एक के बाद दूसरे ऐसे स्वरूपों में हमारे सामने आता-जाता है, कि हमारे चित्त पर पड़ी हुई प्रभाव-छापों को निरंतर अपने रंग से गहरा करता जाता है। नाटक के अंत में जाकर जिस समय हम उसे राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होते देखते हैं, तो अपने पूर्व के सम्पूर्ण प्रभाव-परिणामों से आविष्ट होकर पूर्णतया एक विशेष प्रकार की भावदशा का अनुभव करते हैं। यही नाटक की रस-निष्पत्ति है और इसी को हम प्रभावान्विति कह सकते हैं।

इसी प्रकार की प्रभावान्विति कहानी में भी दिखाई पड़ती है, प्रसाद की 'गुंडा' अथवा 'पुरस्कार' शीर्षक कहानी में अथवा गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' में अथवा प्रेमचन्द की 'सुजान भगत' शीर्षक कहानी में इसका स्वरूप क्रमिक ढंग से दिखाया जा सकता है।

अंतिम कहानी 'सुजान भगत' में आरंभ से ही दिखाई पड़ता है कि सुजान के खेत में सोना बरसता है—यह उसके अत्यधिक परिश्रम और साधना का परिणाम है। यहाँ पर हम उसके अध्यवसाय के कायल हो जाते हैं। फिर जब वह सारा कारबार अपने पुत्र भोला पर छोड़कर तीर्थयात्रा का विचार करने लगता है तब हम उसकी किसान-सुलभ सात्त्विक आकांक्षा पर मुग्ध हो जाते हैं। जिस समय उसका पुत्र भोला भिक्षुक को अन्न देने में आनाकानी करता है, तो सुजान को अपने घर में ही पराजित होते देखकर सहानुभूति से हम भर उठते हैं और इच्छा करते लगते हैं कि क्या अच्छा होता कि सुजान पुनः अपने खोए हुए अधिकार को प्राप्त करता और इस दुर्बुद्धि भोला को अपने आदरणीय पिता के सामने झुकना

पड़ता। आगे चलकर जो ग्रान भगत के हृदय में पैदा होती है और जिसके प्रभाव में वह भूतों की तरह पुनः परिश्रम में जुटा दिखाई पड़ता है, और जिस ग्रान के कारण भोला एक बार पुनः नाचीज़ प्रमाणित होता है, उसके दिव्य-प्रसार को देखकर हम विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। यह मुग्धत्व पूर्व के सब प्रभावों को अपने में समाहित किए रहता है। सारी कहानी में एक पात्र भगत ही हमारा केन्द्रबिंदु बना रहता है, उसमें अन्य कोई विषय ऐसा नहीं है जो हमारे चित्त को द्रवित कर सके। इस तरह जहाँ एक ओर प्रभावों की समष्टि सिद्ध दिखाई पड़ती है, वहीं दूसरी ओर विषय की एकनिष्ठता पूर्ण होती दिखाई पड़ती है।

अब यदि आधुनिक एकांकियों और कहानी की तारतमिक विशेषताओं की ओर ध्यान दिया जाय तो ऐसा मालूम पड़ता है कि रचना के इन दोनों प्रकारों में बहुत अधिक साम्य है। दोनों का लक्ष्य एक ही है—विषय का एकत्व और समष्टिप्रभाव। कहानी की तरह एकांकी में भी किसी एक विषय को लक्ष्य बनाकर बात इस क्रम से कही जाती है कि अंत में उसी मुख्य विषय का प्रभाव पाठक के ऊपर छा उठता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि सारी रचना में प्रतिपादित होने वाला प्रतिपाद्य मुख्यतया वही एक है। यह प्रतिपाद्य समाज का कोई अंग और पहलू हो सकता है, अथवा कोई तथ्य और सिद्धान्त पर ही व्यंग्य किया जा सकता है। इस प्रकार एकोन्मुखता एकांकी का मुख्य धर्म है। इस आधार पर वह प्रकृतया कहानी के अति समीप है।

कहानी और एकांकी

उदाहरण के लिए किसी विभिन्न लेखक की कोई भी रचना ली जा सकती है। जगदीशचंद्र माथुर की 'रीढ़ की हड्डी' अथवा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की 'सूखी डाली' अथवा रामकुमार वर्मा की 'मर्यादा की वेदी पर' रचना को लेकर उसका विश्लेषण किया जा सकता है।

पहल में लेखक ने एक ही बात पर चोट की है। विवाह के प्रसंग में प्रायः ऐसे ही लोग दिखाई पड़ते हैं जो मूलतः एकांगी होते हैं। केवल लड़की की खूबियों की नापतोल करते हैं और उसी में विविध प्रकार की जीवन-संबंधी सम्पूर्णताएँ ढूंढ़ते हैं। लड़के की यथार्थ वस्तुस्थिति की ओर कोई आँख उठाता ही नहीं। यह भी कोई देखने की चेष्टा नहीं करता कि उसमें भी कोई गुण है कि नहीं। 'शंकर' की तरह आज का समाज भी रीढ़ की हड्डी से विहीन है। पर आज की ऊर्ज्जस्वित नारी कटिबद्ध दिखाई पड़ती है—बदला लेने के लिए। अब तक जैसे वह परखी जाती थी, वैसे ही वह अब वर पक्ष की भी जाँच-पड़ताल करेगी, और तब वर को या तो स्वीकार करेगी या अस्वीकार। 'हाँ-ना' का निर्णय उसी पर अवलम्बित रहेगा। तभी बदला पूरा होगा। उस एकांकी में एक मात्र उमा का यही लक्ष्य मालूम पड़ता ।है वहाँ सब परिस्थितियाँ, पात्र और क्रियाकलाप उसी लक्ष्य की ओर ऐकांतिक रूप से उन्मुख मिलते हैं।

दूसरे एकांकी में भारतीय कौटुम्बिक जीवन की इकाई के प्रति बड़ा आग्रह दिखाई पड़ता है। दादा मूलराज समस्त कुटुम्ब की इकाई पर पदारूढ़ मिलते हैं। उस पर पूर्ण रूप से अपना प्रभुत्व जमाए उस महान् वट की भाँति खड़े दिखाई पड़ते हैं, जिसकी लम्बी-लम्बी डालियाँ उनके आँगन में एक बड़े छाते की भाँति धरती को आच्छादित करती हुई, अगणित घोंसलों को अपने पत्तों में छिपाए, वर्षों से तूफानों और आँधियों का सामना किए जा रही हैं। उनका सबसे छोटा लड़का तहसीलदार हो गया और उसकी बीबी बी० ए० पास है। अन्य स्त्रियों से उसका मेल न बैठने से घर का शांत वातावरण क्षुब्ध हो उठता है, और वह अलग्योझा पर तत्पर हुई दिखाई पड़ती है। दादा मूलराज की उदार सहनशीलता और अनुभवपूर्ण कार्य-पटुता से एक-झोंके से उठनेवाले विरोध का शमन हो जाता है।

इस एकांकी में चरित्र और कथानक के सामान्य यथार्थ रूप का ही ग्रहण मिलता है, जिसमें रूढ़िगत प्राचीनता के सौंदर्य से नूतन व्यक्तिवादी जीवन लड़ता दिखाई पड़ता है। द्वन्द्व दादा और छोटी बहू में चलता है। दादा के शाश्वत उदार गाम्भीर्य में छोटी बहू की व्यक्तिवादी चंचलता तिरोहित हो जाती है। छोटी बहू ने देखा कि वह और उसका कौटुम्बिक जीवन उस पेड़ की डाली की तरह सूखा जा रहा है जो पेड़ में तो लगी है, पर अन्य सभी अवयवों से विच्छिन्न होने के कारण दुर्बल और अशक्त होकर सूख जाती है। इस तरह समूचे एकांकी से एक जीवन-दर्शन की एसी झलक मिलती है कि अध्येता उसकी व्याप्ति की कल्पना और अनुमान करता हुआ उसमें डूब जाता है। उसे और कोई बात सूझती ही नहीं। परिस्थितियों से प्रेरित होकर जो निष्कर्ष सामने आता है, वह अपने में सर्वथा पूर्ण है, स्पष्ट है और एकत्वविधायक है।

तीसरे एकांकी 'मर्यादा की वेदी' पर लेखक बड़े कौशल के साथ प्रभावान्विति की मर्यादा स्थापित कर सका है। यों तो पौरवराज की वीरता की धाक जम जाती है, पर मत्स्यगा की भैरवी न जैसा पराक्रम-प्रयत्न किया है; अपनी कठोर वाणी में आम्भी की जैसी भर्त्सना की है और अन्त में आकर जैसा आत्म-बलिदान किया है, उसमें पौरवराज का अभिमान से भरा दर्प डूब उठता है। योगवाही और आनुषंगिक रूप में उसकी वीरता भले ही अच्छी मालूम पड़े पर सिकन्दर के साथ हुआ उसका समझौता भारतीय सम्मान के लिए एक धक्का है। दो प्रति-पक्षियों में जो युद्ध होता है, उसमें भारतीय मर्यादा की रक्षा भैरवी ही करती है। इस तरह सारी कहानी में पौरवराज की वीरता से संवलित मत्स्यगा की भैरवी का चारित्र्य ही विशेष उभड़ा मालूम पड़ता है। उसी के उत्सर्ग और बलिदान में पाठक का तरल चित्त रस पाता है।

इस तरह विभिन्न एकांकियों से विषय की एकता और एकोन्मुखता ही घोषित हो रही है और अन्त में प्रभावों की दीप्ति का

एक केन्द्र बन उठता है। रचना-विधान की यही वस्तुस्थिति कहानी को एकांकियों के साथ ला खड़ा करती है। अवश्य ही दोनों की रचनाशैली और उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं; एक में कथात्मक संगठन है और दूसरे में अभिनेयता का धर्म मुख्य है। एक कहकर-पढ़कर हृदयङ्गम की जा सकती है, और दूसरे में प्रत्यक्ष क्रियाकलापों का अभिनयपूर्ण ब्यौरा मिलता है। इस रूप में अवश्य ही दोनों रचना-प्रकार आपस में पृथक् हैं, पर मूलतः दोनों में प्रकृतिगत अभेदता मालूम पड़ती है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि **कहानी और उपन्यास, और कहानी और नाटक में तो भेद है, पर एकांकी में आकर कहानी एकांकी का कथात्मक रूप ही ज्ञात होती है। इस आधार पर यदि इन दोनों की रचना-प्रणाली की विवेचना की जाय तो विभिन्न तत्त्वों और उनके संयोजन के विचार से भी दोनों में समानता है—ऐसा दिखाया जा सकता है।**

विषय-संग्रह

समाचार-पत्र

कहानी के लिए कैसे और कहाँ से विषय मिल सकते हैं, इस पर भिन्न-भिन्न लेखकों ने अनेकानेक सुझाव दिए हैं। अपनी और अन्य लोगों की पद्धतियों का निरूपण भी कुछ लोगों ने किया है। कुछ लोगों ने तो एक ऐसे नोटबुक रखने तक की सलाह दी है, जिसमें समय-समय पर छोटी या बड़ी जो भी घटना, परिस्थिति, व्यक्ति, मन:स्थिति, भाव, दृश्य सामने ऐसा आए जो संवेदनशील रूप में उपस्थित किया जा सकता हो, लिख लिया जाना चाहिए। फिर उसी के आधार पर किसी प्रकार की कल्पना को व्यावहारिक ढंग से सँवार कर कहानी का निर्माण किया जा सकता है। कुछ लोगों को समाचार-पत्रों के आकर्षक, उत्तेजक, कुतूहल या भावना जगानेवाले समाचार-शीर्षकों से ही बहुत मर्म-स्पर्शी और उत्तेजनापूर्ण प्रेरणाएँ मिल जाती हैं। उनका कहना है कि इन समाचार-शीर्षकों से कोई भी सुझाव मिल जा सकता है, अथवा उनसे सम्बद्ध समाचार-खण्ड ऐसे हो सकते हैं जिनके आवरण में सजीवता जगाने की कल्पना की जा सके।

इसी प्रकार कुछ लोगों की धारणा यह है कि दैनिक जीवन और जगत् में चतुर्दिक् कहानियों के लिए विषय बिखरे पड़े रहते

हैं; केवल आँख खोलकर देखने भर की जरूरत है अथवा कुशल सर्जक में उन्हीं को लेकर हृदय में किसी भावना को जगाने की शक्ति भर होनी चाहिए। इस आधार पर

दैनिक जीवन

कहानी के लिए विषय का आकर हमारा सामान्य दैनिक जीवन है। नित्य के जीवन में कहीं कोई ऐसा मित्र या परिचित सामने आ जाता है, जिसकी मुखाकृति और भाव-मुद्रा परचित्त पर अपनी एक छाप डालती है। कहानी के लिए इतना ही सूत्र पर्याप्त समझना चाहिए। अथवा सड़क पर चले जाते हुए कोई घटना ऐसी सामने आ सकती है, जिससे मन में किसी विशेष भावना का समुदय हो सकता है, अथवा किसी विशेष-प्रकार के वातावरण और प्राकृतिक रमणीयता में ही किसी प्रकार की सजीवता खेलती मिल सकती है; उसी को कहानी की मूल भित्ति बना लिया जा सकता है।

इसी ढंग पर विचार करने से ऐसा मालूम पड़ेगा कि इतिहास के व्यापक प्रसार में अनंत कहानियों के लिए मसाला भरा पड़ा है। जिन्हें अतीत में रमने का अभ्यास

तिहास

है, अथवा जो लोग स्मृति अथवा कल्पना के बल से गत बातों को साकार बना ले सकते हैं, उनके लिए इतिहास के पन्ने-पन्ने में कहानी के विषय चमकते दिखाई पड़ेंगे। भिन्न-भिन्न स्वभाव-प्रकृति के, आचार-विचार के, बनावट और गढ़न के, लम्बे-चौड़े, पतले-दुबले, सुन्दर-कुरूप सभी प्रकार के मनुष्य वहाँ मिल जायेंगे। चरित्र के विचार से भी कायर, वीर, कुलीन-अकुलीन, उदात्त और हीन, क्रोधी और दयालु, रूढ़िवादी और स्वच्छन्द प्रकृति के मनुष्य विभिन्न प्रसंगों में मिलेंगे। सामान्यतः ये सभी किसी कहानी के नायक अथवा प्रतिनायक हो सकते हैं। इतिहासों में विभिन्न प्रकार के वातावरण, परिस्थितियाँ और प्राकृतिक विवरण भी निरंतर मिलते ही रहते हैं। इनके योग से बड़ी सरस कल्पनाएँ, सजीव

चित्र-विधान और रंगीन भावनाएँ सफलता से सजाई जा सकती हैं। कहानीकारों के लिए, इतिहास का विषय बड़ा ही मनोरंजक प्रमाणित होता है। इतिहास की अनुमानजन्य कल्पना, नानाप्रकार की संवेदनशीलता को जगाने में समर्थ हो सकती है। बहुत से मनुष्यों के अंतःकरण में अतीत का प्रेम तरह-तरह से रस उत्पन्न करता है। 'प्रसाद' की 'सालवती', 'गुंडा', इत्यादि कहानियाँ इस विषय में बलिष्ठ प्रमाण हैं।

साहित्य

साहित्य स्वयं में एक ऐसा विशाल महावन है, जहाँ नाना प्रकार के जीव-जंतुओं और वृक्षों के सदृश अनेकानेक विषय और और सूक्ष्म की बातें मिला करती हैं। किसी महाकाव्य, नाटक और उपन्यास के भीतर अनेक ऐसी मनोदशाएँ, चरित्र की प्रवृत्तियाँ, नर-नारी, बालक-वृद्ध मिल सकते हैं, जो कहानीकार को ऐसी प्रेरणा प्रदान करें कि वह उलट-पलट कर उन्हीं के इतिवृत्त और स्वरूप से सहारा लेकर नूतन जोड़-तोड़ की बातें पैदा कर दे। किसी पात्र के चरित्र की दस बातें यदि उपन्यास में कही गईं तो ग्यारहवीं का रूप कहानीकार गढ़ ले सकता है। यदि किसी नाटक में चार प्रभावशाली घटनाएँ चित्रित मिल गईं तो फिर सरलता से कोई भी लेखक पाँचवीं घटना का रूप खड़ा कर दे सकता है। यदि किसी महाकाव्य में किन्हीं दो पात्रों के मैत्रीभाव का भव्य चित्रण मिल गया तो फिर उस मैत्री में बलिदान अथवा उत्सर्ग का कोमल कुसुम खिलाना सरल हो जाता है। इस तरह कोई भी साहित्य कहानीकार को विषय की चेतना-प्रदान करने के लिए पूर्णतया यथेष्ट हो सकता है[१]।

इस विषय में श्रेष्ठ कृतिकारों और समीक्षकों ने एकस्वर से एक सुझाव और दिया है। उनका कहना है कि कहानी-रचना की आकांक्षा करनेवालों को अपने पास एक नोटबुक अवश्य रखनी चाहिए। नित्य के जीवन में जो कुछ आकर्षक, प्रभविष्णु, सु-रूप और कु-रूप घटनाएँ और दृश्य सामने आएँ उनका विवरण उस नोटबुक में

१—प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ० ८०—८२।

सुरक्षित कर लेना चाहिए। घूमते-फिरते किसी प्रकार के यदि सुकृत अथवा दुष्कृत सामने दिखाई पड़ें और यदि द्रष्टा का ध्यान उनकी ओर कुछ आकर्षित हो जाय तो यह समझना चाहिए कि उसके भीतर कुछ स्मरण रखने, कुछ सोचने की बात अवश्य है। इसी तरह किसी मनोरम स्थान पर पहुँच कर, वहाँ के वातावरण से यदि चित्त प्रभावित हो जाय तो उसका भी शाब्दिक चित्र नोटबुक में रख लेना चाहिए। यदि कहीं कोई सुरूप अथवा कुरूप नर-नारी दिखाई पड़े तो उनकी मुद्रा और बनावट, उनका हाव-भाव और वेश-विन्यास बहुत ध्यान से देखा-समझा जाय, और यदि उसका विवरण लिख लिया जाय तो फिर कहानी लिखते समय अनेक प्रकार से उसका उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार की नोटबुक रचना-क्रिया में बहुत उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसा सभी मर्मज्ञ स्वीकार करते हैं[१]।

नोटबुक

१-(क) **"लेखकों के लिए नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोट बुक नहीं रखी; पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूरत, कोइ सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है।............यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा।" —वही पृ० ८४।**

(ख) "The student would do well, therefore, to keep a note-book in which he should jotdown not only ideas on the theory of the short-story and impressions of stories which have especially interested him, but more particularly all the material he has on hand for original work: names, traits, features, faces, characters ; places suitable for storysetting ; interesting situations, incidents, anecdotes illustrative of character ; bits fspeech that have dramatic force ; ideas for the construction of ingenious plots ; or ideas and impressions which will serve as central themes for stories."

—*Albright, E. M.—The short story* (1920), *pp.* 24-25.

इस प्रकार यह नोटबुक अपने में ही बड़ा भारी संग्रहालय तैयार हो जायगा। उसके भीतर विविध प्रकार के पदार्थ, विषय, भाव, घटना, अनुभूति, दृश्य, रूप, आकार, बनावट, सज्जा, वातावरण, प्रकृति––सभी कुछ एकत्र मिल जायँगे। रचनाकार ने उनको देखा और अनुभव किया है; किसी प्रकार का संवेदन प्राप्त किया है अथवा किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ है, इसलिए जब कभी आवश्यकता होगी तो अपनी स्मरणशक्ति और अपनी रसमयी सहृदयता के बल पर वह उसे पुनरुज्जीवित कर लेगा और अपनी कहानी में यथायोग्य स्थान पर उसकी नियोजना करके एक प्रकार की सजीवता उत्पन्न कर लेगा। इन लघुचित्रों और विवरणों को पढ़कर समय-समय पर लेखक की चेतना उद्दीप्त और स्फुरित होगी और वह अपने संग्रहीत विषय या व्यापार से अपने नव निर्माण में योग लेगा।

उपादन-संग्रह के तीन कार

इस संबंध में अंग्रेजी के प्रतिष्ठित लेखक स्टेविन्सन साहब का आत्मानुभव और प्रयोग विशेष रूप से विचारणीय है[१]। प्रायः ऐसा देखा गया है कि कभी कोई ऐसा व्यक्ति सामने आ जाता है जिसके व्यक्तित्व की प्रभावशाली छाया हमारे ऊपर पड़ती है, अथवा उसके चरित्र की वृत्ति-विशेष हमें प्रभावित करती है। जब ऐसा कोई पात्र मिल जाता है तब उसी चरित्र और व्यक्तित्व के

1. "There are, so far as I know, three ways, and three ways only, of writing a story. You may take a plot and fit characters to it, or you may take a character and choose incidents and situations to develop it, or lastly you must bear with me while I try to make this clear'—(here he made a gesture with his hand as if he were trying to shape something and give it outline and form)—'you may take a certain atmosphere, and get actions and persons to realise it. I will give you an example -'The Merry Men.' There I began with the feeling of one of those islands on the West coast of Scotland, and I gradually developed the story to express the sentiment with which that coast affected me."

   —*Graham Balfour's Life of Stevenson. ii, pp.* 169.

अनुरूप यदि कल्पना एवं प्रतिभा के बल पर कुछ परिस्थितियों का निर्माण कर लिया जा सके तो कहानी पूर्ण हो सकती है। इसी तरह यदि कोई ऐसी घटना या परिस्थिति मिल जाती है, जो हृदय को तरल बनाने में सफल हो जाय तो फिर उसके भीतर किसी चरित्र की स्थापना कर देने से कहानी सजीव हो उठेगी। इन दोनों परिस्थितियों से भिन्न एक अवस्था ऐसी भी हो सकती है जब कि किसी स्थान की मनोरमता अथवा किसी वातावरण विशेष की स्निग्धता ही कुछ प्रभावशाली सिद्ध हो जाय। उस स्थिति में उसके भीतर क्रिया-कलाप से संयुक्त किसी मानव की कल्पना कहानी के स्वरूप को पूणता प्रदान कर दे सकती है।

आरम्भ में विषय-चयन की उक्त विविध प्रकार की पद्धतियों का संकेत दे देने के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है कि उनकी सार्थकता का मर्म भी खोल दिया जाय। इतिहास, पुराण,

प्रतिभा का योग

महाकाव्य, जीवन और जगत् सभी कुछ से कहानी के लिए मसाला जुटाने का काम करनेवाली संवेदनशीलता और कल्पना तो रचयिता में अवश्य ही होनी चाहिए; अन्यथा वह उक्त प्राप्त माध्यमों का योग पाकर भी मूक ही रह जायगा। इन विषयों को न जाने कितने लोग पढ़ते-लिखते अथवा सुनते-देखते हैं, पर स्पष्ट है कि सभी के हृदय में कहानी-रचना की योग्यता नहीं उभड़ पाती। अनुभूति से भरे कुछ सहृदय ही इस प्रकार की निर्माण-कृतियों को स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। विभिन्न प्रकार की बातों को देख-पढ़कर उन्हीं के समानान्तर दृश्यों, क्रियाओं, भावनाओं की कल्पना करके वे नानाप्रकार के प्रभावोत्पादक वृत्त गढ़ देते हैं। मूलतः इस कार्य में जो शक्ति कार्य करती है, उसे 'सहज प्रतिभा' ही मानना पड़ेगा। इसके अभाव में पहले बताए हुए नुसखे कोई परिणामकारी रूप नहीं उपस्थित कर सकते।

विविध प्रकार की कहानियों की सूक्ष्मताओं का यदि विचार किया जाय तो एक सामान्य तथ्य पर पहुँचा जा सकता है। जितनी

भी कहानियाँ निर्मित होती हैं, उनके मूल में कोई कल्पना, भावना, अनुभूति, विचार या तथ्य अवश्य रहता है। उसी से उद्बुद्ध होकर कहानी की रचना के लिए, चेतना अथवा प्रेरणा खड़ी होती है। निर्माता के अन्तःकरण में जिस समय यह प्रेरणा मुखरित हो उठती है तो निर्माण का कार्य आरम्भ हो जाता है। लेखक जिस विषय का उत्कट संवेदन कहानी में उपस्थित करता है, अथवा कहानी के मूल में जो भाव निवास करता है, उसी को हम उस कहानी का बीज-भाव स्वीकार करते हैं। मूलतः उन्हीं से कृतिकार प्रेरणा ग्रहण करता और लिखता है। ये बीज-भाव अनेक प्रकार के और अनेक रूप के हो सकते हैं। इन्हीं की विभिन्न शिराओं को लेकर कहानी अपना रूप संगठित करती है और उसके कथानक का रूप बनकर साकार हो उठता है। अंग्रेजीवालों ने इसी को प्रेरणा (मोटिव[1]) अथवा कहानी का बीज-भाव (जर्मिनल आइ-डिया)[2] कहा है। मुंशी प्रेमचन्द ने इसकी स्पष्ट विवेचना तो नहीं

प्रेरणा

1. "Plot starts most commonly with an idea originating in the impression made by a single incident, in a situation experienced or invented, in a chance mood or fancy, or in a conception of character. The starting point for the plot may be called the story *theme*, the idea, the *plot-germ*, or the *motive*. By the term *motive*, is meant whatever in the material has served as the spur of stimulus to write, the moving force of a story in short, its reason for existence."
   —*Albright, E. M. : The Short Story ;* 1920, *pp*. 28.
2. "A dramatic incident or situation ; a telling scene ; a phase of character ; a bit of experience ; an aspect of life ; a moral problem—any one of these, and innumerable other motives which might be added to the list, may be made the nucles of a thoroughly satisfactory story." *Hudson, W. H: 'An Introduction to the Study of Literature ;* 1932, *pp*. 457.

की पर उन्होंने भी तथ्य रूप में इसे स्वीकार किया ही है।[1] इस विषय में वस्तुतः स्थिति यह उत्पन्न होती है कि रचनाकार के तत्पर चित्त पर जीवन और जगत् के जिस विषय अथवा व्यापार की छाप पड़ जाती है उससे उसे एक दृश्य की सर्जनात्मक प्रेरणा प्राप्त होती है और कहानी के रूप-विधान का वही प्रेरक अथवा बीज-भाव कहलाता है। लेखक के भीतर इस प्रकार के भाव प्रायः प्रतिवर्तन के रूप में जगते हैं। जहाँ-कहीं भी उसके दृष्टि पथ में कोई मार्मिकता को उभाड़नेवाली बात आ जाती है और किसी विशेष प्रकार की संवेदना को झंकृत कर देती है वहीं उसकी कल्पना अपने रंग से उसी बात को नए आकार में सजाने लगती है। इस आधार पर सोचा जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि कहानी म अथवा साहित्य की किसी कृति में भी किसी प्रकार की अनुकृति[2] अथवा रूप का आरोप[3] ही यथार्थ सर्जना का काम होता है और इस सर्जना-व्यापार का मूल आधार कृतिकार के चित्त में जगी हुई वही मौलिक संवेदना होती है। अरस्तु के इमिटेशन (Imitation) के सिद्धान्त में भी इसी अधार की बात दिखाई पड़ती है।

—:o:—

१—"आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्य की झलक हो और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।"

प्रेमचन्द्र—'कुछ विचार' १९३९, पृ० ५६।

२—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।

३—रूपारोपात्तुरूपकम्।

वस्तु-विन्यास

विषय-चयन अथवा उपादान-संग्रह के विभिन्न क्षेत्रों का निश्चय हो जाने पर, अथवा कहानी के प्रतिपाद्य की प्रेरणा का स्वरूप समझ लेन पर लेखक के सामने जो महत्व की बात उपस्थित होती है, वह है वस्तु-विन्यास अथवा कथानक का प्रश्न। सामान्यत: कथांश और कथानक में तात्त्विक अन्तर है।

कथाभाग और कथानक

जहाँ कथांश में केवल कालक्रमानुसार बात एक ओर से दूसरे छोर तक गतिशील इतिवृत्त के रूप में कह दी जाती है और उसके बीच की कड़ियों को स्पष्ट करने की बुद्धिमूलक आकांक्षा नहीं रहती, वहीं कथानक के भीतर कुछ तर्कसंगत व्यापारों का योग भी अपेक्षित होता है। उसमें किसी इतिवृत्त अथवा कथा को ऐसे क्रम से सजाना पड़ता है जिसमें तर्कसम्मत होकर समग्र सम्बन्ध-योजना एक ऐसा स्वरूप ग्रहण कर ले जिससे कथानक के भीतर आए हुए प्रभाव-परिणाम के पूर्व उससे सम्बद्ध कार्य और उस कार्य की सिद्धि में सहायता करनेवाले एक या अनेक कारण——सब स्फुटित हो जायँ। सारे विषय का एक क्रम-विन्यास स्पष्ट मालूम पड़े तभी यह समझना चाहिए कि वस्तु का विधान पूरा हो सका है। जब तक वस्तु-विधान इस प्रकार के उतार-चढ़ाव से संयुक्त नहीं होगा, तब तक कहानी

का लक्ष्य इस अर्थ में पूरा नहीं हो सकता कि उससे प्रभावान्विति में कोई योग नहीं मिलेगा।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या कहानी में इस प्रकार का वस्तु-विन्यास अनिवार्य है? कुछ लोगों को इस प्रकार की किसी पूर्वनिश्चित व्यवस्था-योजना में आस्था ही नहीं होती।[1] उनका कहना है कि बिना इस प्रकार की किसी आरम्भिक योजना के भी कहानी कही जा सकती है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि कार्य-कारण और परिणाम की पूरी दौड़ का कहानी में दिखाना नितान्त आवश्यक हो। कहानियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें किसी साध्य की केवल सिद्धावस्था ही सामने लाई जाय और उसी के द्वारा कोई ऐसा प्रभावोत्पादक स्वरूप प्राप्त हो जाय कि पाठक का चित्त द्रवित हो उठे। इस विषय में यह आवश्यक नहीं है कि किसी विषय के सिद्धावस्था तक पहुँचने के पूर्व की समस्त भूमिकाएँ अथवा विविध साधनों को एक क्रम से अवश्य ही दिखाया या सजाया जाय। इस प्रकार के विचारकों से केवल एक ही बात कहनी होगी कि निर्माण का ऐसा कोई कार्य हो ही नहीं सकता जिसमें अपेक्षित पूर्णता की प्राप्ति करने के लिए पहले से एक क्रम स्थिर न कर लिया गया हो। जिस विषय की केवल सिद्धि में ही प्रभावसमष्टि उभाड़नी होगी, उसे एक बुद्धिमलक पीठिका पर स्थापित तो करना

कथानक की अनिवार्यता

1. "With or without your kind permission I will kick the word *Plot* right into the sea, hoping that it will sink and never reappear. It is the most deceptive word in the jargon of the art, craft, or what would you. As a *noun* it usually means nothing more or less than *story-outline* or *synopsis*. As a *verb* it means *to shape* or *plan.*
I hate ambiguities, and so I am substituting 'story outline' for the noun, and 'devise' for the verb.
Francis Vivian—'Creative Technique in Fiction. (1946), *pp*. 42-3.

ही होगा। उसके बिना अभीप्सित वातावरण ही नहीं खड़ा होगा। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि कहानी को सफल बनाने के लिए उसके मूलभाव के आगे-पीछे का विवरण एक निश्चित योजना के साथ बाँधा जाय। किसी कथांश को बुद्धिमूलक ढंग से संयोजित करना ही कथानक है, और यह किसी भी प्रकार की रचना के लिए अनिवार्य है।

सामान्यतः उपन्यास, नाटक इत्यादि अन्य रचना-प्रकारों में कथानक का संगठन जिस सिद्धान्त अथवा पद्धति पर किया जाता है,

कथानक के तीन रूप

कहानी में आकर उसका वह रूप नहीं रह जाता। विस्तार-परिमिति और लक्ष्य की ऐकांतिकता के कारण कोई बात भी यहाँ थोड़े में और सीधे ढंग से कहनी पड़ती है। इसलिए कहानी के कथानक में कार्यों की विभिन्न अवस्थाओं का विचार नहीं किया जाता। इसमें अधिक से अधिक आरम्भ, चरमोत्कर्ष और अन्त आवश्यक रहता है। कहीं-कहीं ऐसा भी हो जा सकता है कि इनमें से भी कोई रहे या न रहे—यह कहानी की प्रेरणा अथवा उद्देश्य पर निर्भर करता है। पर साधारण रूप में उक्त तीनों अंश यदि यथाक्रम नियोजित रहें तो कहानी का आभोग पूर्ण होता है; यह अवश्य है कि ऐसी स्थिति में कहानी कुछ बड़ी हो जाती है। इस बड़ाई की सीमा लेखक-विशेष की अपनी आकांक्षा पर आधारित रहती है। इस त्रिकोण पद्धति के कथानक का सौन्दर्य यदि देखना हो तो प्रसाद की कहानी 'आंधी' और 'सालवती' अथवा प्रेमचन्द की रचना 'ऐक्ट्रेस' अथवा 'सुजान भगत' में देखा जा सकता है। उनमें कारण, कार्य, परिणाम अथवा आरम्भ, उत्कर्ष और अन्त अत्यन्त विशद रूप में उपस्थित किए गए हैं।

जिन कहानियों में कथाभाग की उक्त दौड़ पूरी इष्ट नहीं होती उसमें कथानक सिद्ध रूप में किसी एक भाव, मन:स्थिति और घटना का स्वरूप चित्रवत् उपस्थित करता है। ऐसी कहानियों में चरम उत्कर्ष-विन्दु से ही वस्तुस्थिति हमारे सामने आती है और

हमारी सम्पूर्ण कल्पना और सहृदयता को समेट लेती है। इन कहानियों में प्रभावान्विति की सिद्धावस्था की विवृति ही लक्ष्य होती है। इसी विवृति अथवा प्रसार में ही रचना का अन्त हो जाता है; यहाँ किसी प्रभाव की सिद्धावस्था का पूर्ण और नग्न आभोग ही परम साध्य माना जा सकता है। इस रूप का कुछ ज्ञान 'प्रसाद' की 'विजया' या मोहनलाल महतो की 'पांच मिनट' कहानियों से प्राप्त किया जा सकता है।

इसी प्रकार कथानक का एक तीसरा रूप भी प्रायः देखने को को मिलता है। कथा-सूत्र के विकास का पर्यवसान चरम-सीमा पर पहुँच कर ही स्थिर रह जाय। ऐसा भी हो सकता है कि आरम्भ म वस्तुस्थिति का परिचय या विवरण रखा मिले और उसके भीतर से निकल कर कहानी ऊपर की ओर बढ़े। अपने साथ परिस्थितिजन्य प्रभावों को एकत्र करती उसकी गति तीव्रता से उस उत्कर्ष पर पहुँचे और पहुँच कर वहीं रुक जाय जहाँ चरित्र की एकोन्मुखता अथवा भावोद्रेक अथवा मानसिक द्रवता प्रबलतम रूप धारण कर ले और बात वहीं पूरी हो जाय। वस्तुविन्यास के इस रूप में केवल आरम्भ और उत्कर्ष की चरमावस्था ही मुखरित हो सकती है। ऐसी कहानी का लक्ष्य ही यह होता है कि थोड़ी दौड़ के भीतर ही किसी दशा को ऐसा उद्दीप्त कर दिया जाय कि पाठक के हृदय को वह सहज ही में अभिभूत कर ले। उदाहरण के विचार से जैनेन्द्र कुमार की 'चोर', सियारामशरण गुप्त की 'बैल की बिक्री' अथवा भगवतीचरण वर्मा की 'दो बांके' शीर्षक कहानियाँ देखी जा सकती हैं।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि विकासक्रम के आधार पर कहानी की 'वस्तु' तीन स्वरूप में अभिव्यक्त होती है:—
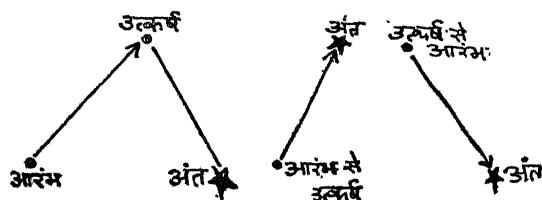
'विकास' और 'निर्गति' नाम की कार्यावस्थाओं का कहानी में कोई प्रयोजन स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके लिए यहाँ स्थान का अभाव मानना होगा; एतावता वे वर्ज्य हैं।

वस्तु-विन्यास के उक्त तीनों प्रकारों से सर्वथा भिन्न एक और भी रूप विकसित हो चुका है और रचनात्मक चमत्कार से संयुक्त मालूम पड़ता है।

दुहरे कथानक

एक कहानी में से दूसरी कहानी का फट पड़ना अथवा एक कथानक के भीतर उसी से सम्बद्ध दूसरे कथानक का खड़ा हो जाना भी सफलता से उपस्थित किया जा सकता है। इसमें एक विशेष प्रकार का कौशल दिखाई पड़ता है। अवश्य ही इस कौशल में बुद्धि का आधार अपेक्षित हो जाता है--रचनाकार के लिए भी और अध्येता के लिए भी। यदि पढ़नेवाला पटु और योग्य नहीं है तो कहानी के उस अंश और संधि के आस्वादन में असमर्थ रह जायगा, जहाँ एक में से दूसरी कहानी का जन्म होता है। लेखक अपनी शक्ति भर तो उस स्थल पर पूरी सावधानी रखेगा ही, पर पढ़नेवाले सब समान योग्यता और शक्ति के नहीं होते, इसलिए रचना की ऐसी प्रवृति, बुद्धिमूलक ही मालूम होती है। इससे संवेदनशीलता कुछ विशेषरूप से उद्बुद्ध अथवा उद्दीप्त होती हो—ऐसी बात नहीं है। इस मार्ग का अनुसरण प्रायः ऐसे ही लोग करते हैं जिनमें नूतन विधान अथवा चमत्कार-प्रेम अधिक जोर मारता है। हिन्दी में इधर आकर रचनापद्धति की यह नूतन-प्रियता 'अज्ञेय' आदि लेखकों में अधिक प्रविष्ट दिखाई पड़ती है; यों तो अंग्रेजी में भी दुहरे वस्तु-विधान की कहानियाँ प्राप्त होती हैं।[१]

कहानी के मूलभाव और प्रेरकता के अनुरूप ही वस्तु का संप्रसारण भी होता है। यदि कहानी की मूल आकांक्षा कुतूहल भाव

---

1. She Wanted to Fall (*A Two Part Story—by Francis Vivian*) —*Creative Technique in Ficition, pp*. 123.

को जगाना है तो कथानक में किसी प्रकार की वक्रता, उतार-चढ़ाव की आवश्यकता नहीं रहेगी। सरल और सम

समवाही कथानक गति से वस्तु एक ओर से दूसरे छोर तक चलती रहेगी। इतिवृत्त-निवेदन का क्रम एसा रहेगा कि एक कुतूहल की उलझन पदा कर दी जायगी और कथानक बिना किसी चमत्कारपूर्ण योजना के तब तक चला चलगा जब तक सहसा जिज्ञासा का समाधान नहीं हो जायगा; अवश्य ही कृतिकार सारी दौड़ का एक क्रम पहले से ही स्थिर कर रखता है। कथानक के विचार से तिलस्मी, जासूसी, इत्यादि ढंग की कहानियाँ इसी कोटि में आएँगी।

अन्य प्रकार की कहानियों में वस्तु के गुम्फन में कौशल आवश्यक रहता है। प्रेरणा चाहे चरित्र अथवा घटना से मिले, चाहे अनुभूति-मूलक कल्पना से, फिर भी कथानक में

क्रमबद्ध कथानक एक योजना की आवश्यकता दिखाई पड़ेगी। किसी स्थल विशेष से वस्तु का आरम्भ अवश्य ही करना पड़ेगा और कारण—कार्य—परिणाम की अपनी एक योजना अवश्य बनानी पड़ेगी। आरम्भ में या तो किसी परिस्थिति विशेष का विवरण दिया जायगा और उससे विकसित होनेवाले चरित्र अथवा भाव का उदय दिखाया जायगा या कार्य से ही कहानी आरम्भ हो जायेगी और उसी के अनुरूप परिणाम की ओर बढ़ चलेंगी, या किसी संघर्षमयी स्थिति से किसी विशष प्रकार का प्रभाव फैलता दिखाया जायगा। जसा भी क्रम हो कहानी की प्ररक शक्ति के अनुरूप विषय का प्रसार एक क्रम अवश्य ही ग्रहण करेगा, और निश्चित परिणाम पर पहुँचने के पूर्व अपनी एक ऐसी बुद्धिमूलक सजावट तैयार करेगा जिसके कारण कहानी का फल यथार्थ और प्रकृत मालूम पड़ सके।

इस प्रसंग में कतिपय आवश्यक सिद्धान्तों का विचार कर लेना उचित मालूम पड़ता है। कहानी के कथानक में किसी प्रकार

की भी जटिलता नहीं उत्पन्न होनी चाहिए, क्योंकि किसी प्रकार की जटिलता में उसकी अपनी अवान्तर बातें इतनी अधिक स्वयं हो जाएँगी कि कहानी की एकोन्मुखता के बिगड़ने का भय होगा। अतएव न तो किसी जटिल चरित्रवाले पात्र का इसमें चित्रण हो सकता है और न कथानक की गतिविधि उलझाई जा सकती है। विषय का सीधा प्रतिपादन ही कहानी में इष्ट है। इसलिए कथानक में अधिक मोड़ नहीं उत्पन्न किए जाने चाहिए। दूसरी बात विचार की यह है कि कहानी लघुविस्तार की रचना है, इसलिए कथानक के भीतर बात जहाँ-कहीं से भी चले और जहाँ-कहीं भी पहुँचे उसकी गति में कौशलपूर्ण त्वरा अथवा वेग का होना नितान्त वांछनीय है। कोई चरित्र चाहे वह चरमसीमा की ओर बढ़ रहा हो अथवा अपने उच्चतम उत्कर्ष से निगति की ओर चल कर अनुमान क्षेत्र को आन्दोलित कर रहा हो, उसमें पर्याप्त क्षिप्रता के साथ तीव्रगतिशीलता भी होनी चाहिए, तभी वस्तुतः प्रभावान्विति पूर्णतया झंकृत अथवा स्फुरित होगी।

सिद्धान्त-पक्ष

तीसरी बात जो कथानक के विकास में आवश्यक रहती है वह है बुद्धि-संगत प्रकृतत्व अथवा यथार्थता। यह यथार्थता सभी बातों में होनी चाहिए—वह चाहे चरित्र की कोई वृत्ति विशेष हो चाहे किसी घटना की अभिव्यक्ति; चाहे वातावरण का चित्रण हो चाहे देश-काल का कथन। किसी चरित्र अथवा भावदशा की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं, इसलिए सबसे अधिक ध्यान इसी बात का होना चाहिए कि इन परिस्थितियों को किसी जंजीर की कड़ियों की तरह अथवा सीढ़ियों के क्रम की तरह सजाया जाय। जब तक कोई चरित्र अथवा घटना अपने चतुर्दिक् कारणरूप से विभिन्न स्थितियों का आवरण नहीं डाल लेती तब तक उसके स्वरूप में प्रकृतत्व नहीं उत्पन्न हो सकता और उसके इस निर्दिष्टि रूप को बुद्धि नहीं

ग्रहण कर सकती। अब यदि बुद्धि प्रभावान्विति की वश्यता नहीं स्वीकार करती तो कहानी को सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिए कहानी में बुद्धिमूलक और यथार्थ स्थितियाँ यथाक्रम और यथास्थान ठीक से चित्रित होनी चाहिए।

संघर्ष

संघर्ष और द्वन्द्व साहित्य का वह साधन है जिसका प्रयोग रचना के सभी प्रकारों में समान रूप से होता है। एक प्रकार से द्वन्द्व के ही आधार पर कथांश को गति प्राप्त होती है, उसी को परिणाम मानकर कार्य और उसके हेतु का सजीव चित्रण—महाकाव्य, नाटक, उपन्यास सभी में होता है; परन्तु कहानी में आकर यही द्वन्द्व अथवा संघर्ष ऐसा संवेदनशील रूप धारण करता है कि उसका अपना एक चमत्कार स्वयं में तैयार हो जाता है। जिन कहानियों में द्वन्द्व-चित्रण ही प्रतिपाद्य बन जाता है, अथवा जहाँ उसी से कहानी-रचना की प्रेरणा प्राप्त होती है, वहाँ इसका प्रभाव वस्तु-विन्यास में बहुत अधिक दिखाई पड़ता है। यह द्वन्द्व तीन प्रकार का हो सकता है[१]—(१) मनुष्य का भौतिक जगत् से (२) मनुष्य का मनुष्य से, (३) एक ही मनुष्य में दो भावों का।

(१) पहले में पात्र अपने चतुर्दिक् फैले हुए वातावरण, परिस्थितियाँ, समाज, धर्म, राजनीति, प्रकृति किसी से भी युद्ध करता दिखाया जा सकता है। या तो वह अपने चरित्र-प्रभाव से इनकी किसी उद्दंडता पर विजय प्राप्त करता है, अथवा उनके सामने सिर झुकाता और समझौता करता दिखाया जाता है। दादी-नानी की कहानी से लेकर आजकल की मनोविज्ञान-प्रधान कहानियों तक में इसका विस्तार भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाया जाता है। कहीं कोई राजकुमार घर से निरवलम्ब निकल कर कमलवन की परी से दोस्ती करके कोई कोहनूर-खजाना प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के

1. *Pitking, B.—The Art and the Business of Story Writing,* (1919), *pp.* 74.

उपाय करता है, और मार्ग में आनेवाले संघर्षों का वीरतापूर्वक सामना करता है। इसी तरह आधुनिक मनोविज्ञान का कोई मशीन-रूप-मानव आज मानसिक द्वन्द्व में पड़ा या तो कुल की कोई अवांछित परम्परा से लड़ाई ठान बैठता है अथवा समाज की किसी रूढ़ि-परम्परा के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर देता है, और अपने चारित्र्य बल से उस लड़ाई का सामना करता है।

(२) दूसरे में मनुष्य अपने समानधर्मा अन्य किसी मानव से युद्ध से करता दिखाया जाता है। मनुष्य के साथ उसकी परिस्थितियाँ और प्रकृति भी युद्ध करती हैं। पात्र के जीवन की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं, चरित्र की अपनी वृत्तियाँ होती हैं, जहाँ कहीं भी दो पात्रों की ये वृत्तियाँ और परिस्थितियाँ विषम हुईं, वहीं एक पात्र दूसरे पात्र से विरोध करता है और संघर्ष अथवा द्वन्द्व का रूप उभड़ आता है। राम-रावण के द्वन्द्व से लेकर प्रसाद की 'सलीम' कहानी के नन्दराम और कट्टर मुसलमान, अथवा प्रेमचन्द के 'सुजान भगत' और भोला तक यह द्वन्द्व देखा जा सकता है।

(३) जहाँ कहीं मनुष्य के अन्तःकरण में दो विरोधी भाव एक ही प्रसंग अथवा धारा में आ जाते हैं, वहाँ इनके संघर्ष का बड़ा ही प्रभावशाली रूप दिखाई पड़ता है। किसी एक निश्चित परिस्थिति में जहाँ-कहीं एक भाव अपना स्वरूप संगठित करके मानसलोक में अधिष्ठित हो जाता है, वहीं यदि भिन्न परिस्थितियों से प्रेरित होकर कोई दूसरा भाव भी अपने सम्पूर्ण प्रभावों को लेकर स्वतन्त्र रूप में खड़ा हो जाय तो दोनों की एक ही आभोग-भूमि होने से बड़ा ही चमत्कारपूर्ण संघर्ष उत्पन्न होता है। एक ही धारा में बहनेवाले ये दोनों भाव यदि विरोधमूलक सिद्ध हुए तब तो अन्तःकरण कठोर रस्साकशी का अखाड़ा बन जाता है, इसका यदि हल्का रूप देखता हो तो इलाचन्द्र जोशी की कहानी 'अपत्नीक' में देखा जा सकता है। इस प्रकार के द्वन्द्व का यथार्थ प्रभावशाली और पूर्ण वैभवयुक्त चित्रण 'प्रसाद' की 'पुरस्कार' और 'आकाशदीप'

शीर्षक कहानियों में मिलता है। एक ही पात्र में दाम्पत्यरति और कुलमान के प्रति प्रेम में तीव्र खींचतान दिखाई गई है और परिणाम बड़ा ही चित्त को द्रवित करने वाला बन गया है।

सिद्धान्त रूप में यदि उक्त सभी कहानियों का अध्ययन किया जाय तो एक बात स्पष्ट दिखाई पड़ेगी कि उनमें परिस्थिति-योजना का क्रमन्यास बहुत ही कौशलपूर्ण ढंग से किया गया है। कौशल कथानक को इस ढंग से मोड़ने में दिखाई पड़ेगा कि दो भावोदयों के अनुरूप बुद्धिमूलक परिस्थितियों की सजावट प्रकृत ढंग से हो गई है। उक्त कृतियों में कथानक के ऐसे दोनों खण्डों के महत्त्व का यथाविधि चित्रण बड़ी चातुरी से किया गया है। ऐसी रचनाओं में दोनों विरोधी भावों के उदय और क्रियागत परिणति को लेकर ही कथानक यथार्थ बन सकता है। इसलिए द्वन्द्व-प्रधान कहानियों में नाटकीय चित्रविधान अवश्य दिखाई पड़ेगा और यही कारण है कि ऐसी कहानियाँ पाठक को बड़ी ही रुचिकर हो उठती हैं।

तथ्य अथवा सत्य

कहानी-रचना की प्रेरणा यदि ऐसे अनुभव, विश्वास अथवा चिंतन पर अवलम्बित है, जिसका मूलाधार जीवन का कोई तथ्य अथवा सत्य है, अथवा तद्विषयक कोई कल्पना है तो फिर कथानक की गति स्पष्ट एकरस, एकगति, सरल और सीधी होगी। कारण, कार्य और परिणाम की योजना उतनी आवश्यक न होगी जितनी कि उस सत्य अथवा तथ्य को किसी सुनिश्चित आसन अथवा पीठिका पर बैठाना। लेखक का सारा ध्यान केवल इसी बात में लगेगा कि जो तथ्य अथवा सत्य प्रभावोत्पादकता का मुख्य कारण बनाया जा रहा है उसे ऐसी परिस्थिति के बीच में खड़ा किया जाय जो उसकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हो। इसलिए ऐसी कहानियों में केवल परिस्थिति होगी और प्रभावान्विति का कारण रूप वह जीवन का सत्य होगा। कथांश को परिच्छेदों अथवा विभिन्न दृश्यों में बाँधने की भी उतनी अधिक

आवश्यकता ऐसी कहानियों में नहीं रह जाती और न तो वस्तु-विन्यास में ही किसी प्रकार के उतार-चढ़ाव के लिए योजना बनानी पड़ती। ऐसी रचनाओं में केवल इतिवृत्त-निवेदनका सीधापन और तथ्योद्‌घाटन के प्रति विशेष आकर्षण लक्षित होता है। उदाहरण रूप में कई कहानियाँ उपस्थित की जा सकती हैं—प्रेमचन्द की 'आत्मसंगीत', सियारामशरण की 'कोटर या कुटीर' और 'अज्ञेय' की 'शत्रु'।

वस्तु-विन्यास के विषय में जिन बातों का ऊपर विवेचन किया गया है, उनको केवल विचारोन्मेष की भूमिका समझना चाहिए। 'दो और दो बराबर चार के'—ऐसा गणित का सा

निष्कर्ष

कोई कठोर नियम और आग्रह समीक्षाशास्त्र नहीं उपस्थित कर सकता। सिद्धान्त की बातें व्यवहार के क्षेत्र में आकर नानारूप धारण कर ले सकती हैं। इसीलिए जितने भी लक्षण निरूपित होते हैं अथवा निर्माण-कार्य में योग देने के लिए जिन नियमों का संकेत किया जाता है, उन्हें लक्ष्य रूप में विभिन्न कृतियों में प्रयुक्त पाकर ही स्वीकार किया जाता है। सामान्य रूप में तो यही दिखाई पड़ता है कि लक्षणों का विचार करके कृतिकार सर्जना के क्षेत्र में नहीं उतरता। वह तो रचना की प्रकृति के अनुरूप लक्ष्य को केन्द्रविंदु मानकर वस्तु प्रस्तुत कर देता है। इस रूप में निर्माता की मर्यादा को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र मानते हुए भी इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि यदि वह निर्माता समीक्षा-विषयक सिद्धान्तों का अध्ययन अथवा अनुसरण कर सके तो उसे अपने कार्य में बड़ा योग मिल सकता है।

कहानी की रचना और अध्ययन से सम्बन्ध रखनेवाले उस महत्वपूर्ण पक्ष की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक है जिसका सीधा सम्बन्ध वस्तु और उसके विन्यास-क्रम

परिच्छेद-विभाजन

से है। सामान्यतः सभी कहानियों में कथानक कुछ खंडों और परिच्छेदों में विभक्त रहता है। सारे इतिवृत्त को खंड-खंड करके उपस्थित करने की

परिपाटी है। इन परिच्छेदों में वस्तु-विभाजन की पद्धति अपने में एक महत्वपूर्ण विषय है। इस विभाजन की अनिवार्यता और उपयोगिता क्या है? क्यों इसको सभी साहित्यों के कहानी-लेखक एक स्वर से स्वीकार करते हैं? इसके प्रयोग के भीतर कौन सी सिद्धान्त की बातें है? इत्यादि अनेक विचारोन्मेष के तथ्य दिखाई पड़ते हैं।

समस्त कहानी को विभिन्न खंडों में बाँटना स्वयं में प्रयोगसिद्ध है और सर्वथा व्यावहारिक भी है। लेकिन परिच्छेदों में बाँटने की बात उसी समय आएगी जब इतिवृत्त अथवा भावक्रम का प्रसार कुछ उतार-चढ़ाव से संयुक्त होगा। एक चित्र और एक दृश्यवाली जो कहानियाँ होंगी उनमें सिद्धान्तः परिच्छेद नहीं हो सकते—जैसे, 'प्रसाद' की 'समुद्रसंतरण' कहानी है। इसी प्रकार की अन्य कहानियों में देखा जा सकता है कि देशकाल, पात्र, भाव, परिस्थिति सभी कुछ थोक का थोक एक दृश्य या चित्र में समन्वित हुआ है। ऐसी अवस्था में खण्ड और परिच्छेदों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रह सकता। इस मर्म को समझने में यदि थोड़ा सा भी प्रमाद होता है तो बड़े से बड़े लेखक भी भूल कर जा सकते हैं। इसका प्रमाण प्रेमचन्द की कहानी 'आत्मसंगीत' है।

(१)

(प्रथम परिच्छेद की समाप्ति इस रूप में है)

वह घंटों चलती रही, यहाँ तक कि मार्ग में नदी ने उसका गतिरोध किया।

(२)

(द्वितीय परिच्छेद का आरम्भ इस रूप में है)

मनोरमा ने विवश इधर उधर दृष्टि दौड़ाई। किनारे पर एक नौका दिखाई दी। निकट जा कर बोली—"माझी में उस पार जाऊँगी। इस मनोहर राग ने मुझे व्याकुल कर दिया है।"

"आत्मसंगीत"—प्रेमचन्द

उक्त उद्धरण में प्रथम खंड की समाप्ति जिस स्थल पर होती है और जिस समय पर होती है उसमें और दूसरे खण्ड के आरम्भ के स्थल में किसी छूट अथवा परिवर्तन का कोई अवकाश ही नहीं है। सारी क्रिया अटूट गति से चलती रहती है। रानी मनोरमा घंटों चलती रही; सहसा नदी ने सामने आकर अवरोध उत्पन्न कर दिया और रानी ने इधर-उधर देखा; सामने एक नौका थी; उसके माझी को उसने पुकारा। इसमें न तो कहीं क्रिया की गति-भंग होती है और न स्थान और काल में कोई परिवर्तन होता है। ऐसी स्थिति में लेखक के केवल '–२–' लिख देने से परिच्छेद का प्रयोग न तो सार्थक होता है और न औचित्यपूर्ण ही।

इस विवेचन में कुछ तथ्य की बातें सन्निहित हैं। कहानियों का यह परिच्छेद-विभाजन कुछ सिद्धान्तों पर अवलंबित है। मूलत:

परिच्छेद-विभाजन के तत्व

एक-एक परिच्छेद इतिवृत्त के खण्ड-खण्ड रूप हैं। प्रत्येक खण्ड में जो प्रवाह चलता है उसमें जहाँ कुछ छूट पैदा होती है और स्थान, काल और क्रिया की भूमिका और पट में परिवर्तन होता है, वहीं परिच्छेद या तो समाप्त होता है या तो आरम्भ होता है। कहानी का यह खण्ड-विभाजन एक प्रकार से नाटकीय पट-परिवर्तन है। जैसे नाटक में पर्दा गिर कर अथवा उठकर सम्पूर्ण वातावरण को बदल देता है, उसी प्रकार कहानी में जहाँ परिच्छेद का परिवर्तन होता है, वहाँ पहले का चला आता हुआ दृश्य या व्यापार बदलता है और नतन प्रकृति, वातावरण, काल प्रवेश पाता है। वहाँ से नया दृश्य अथवा खण्ड, अथवा परिच्छेद परिवर्तन ग्रहण करता है। इस प्रकार थोड़े में कहा जा सकता है कि कहानी के कथानक को खण्डों में विभाजित करने में मुख्यत: अभिप्राय की निम्नलिखित चार बातों में से कोई न कोई अवश्य रहेगी :—

(१) कथा के प्रवाह में काल के व्यवधान को सूचित करना।

(२) दृश्य और स्थान के परिवर्तन का चित्र उपस्थित करना।

(३) चरित्र की मानसिक वृत्तियों के उत्कर्षापकर्ष को व्यंजित करना ।

(४) प्रभावान्विति को उत्तरोत्तर नुकीली बनाते चलना ।

इन चारों पक्षों का विचार करने पर सिद्धान्तः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस परिच्छेद-विभाजन में भी रचना का विशेष कौशल निहित रहता है। जो कुशल लेखक इन खण्डों के समाप्ति-स्थल और उसके बाद के आरम्भिक स्थल को जितना ही प्रभाव-शाली बना सकेगा उतनी ही उसकी कहानी की कड़ियाँ आलोक-मयी होती जायँगी और प्रत्येक पटपरिवर्तन के अवसर पर पाठक अथवा अध्येता नूतन चित्र-विधान से आह्लादित और अनुरंजित होगा। उसे एक प्रकार की नवीनता और स्फूर्ति का अनुभव होगा। इस प्रकार आद्यंत कहानी में एक गतिशील स्निग्धता बनी रहेगी और कथा भी उत्कर्षोन्मुख होती चलेगी। उदाहरण के लिए यदि 'प्रसाद' की कहानी 'विसाती' को लिया जाय तो थोड़े में बात साफ हो जायगी। उसी प्रकार अन्य कहानियों में भी परिच्छेद-विभाजन की बात समझी जा सकती है। यदि उक्त सिद्धान्त की दृष्टि से इस विषय की परीक्षा की जायगी तो विविध लेखकों के उचित और अनुचित प्रयोगों की छान-बीन सरल हो जायगी।

विसाती के परिच्छेद

इस कहानी के आरम्भ में लेखक ने प्रकृति का मनोरम चित्रण किया है। उसमें देश-काल के साथ-साथ स्थल की मनोरमता खिल उठी है। प्रकृति की रमणीयता से उद्दीप्त शीरी अपनी व्यक्तिगत भावनाओं में तल्लीन है। उसकी सखी जुलेखा ने जाकर एकान्त-भावना भंग की। वैदग्ध्यपूर्ण थोड़ा संवाद चला और यह कहकर जुलेखा चली गई—"अच्छा लौट आवेगा, चिन्ता न कर। मैं घर जाती हूँ।" इस पर शीरीं ने सिर हिला कर जाने की अनुमति दे दी और वह चली गई। इसके बाद पट-परिवर्तन होता है।

स्थान तो फिर भी वही रहता है, लेकिन काल में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है और शीरी की मानसिक वस्तुस्थिति में परिवर्तन प्रकट होता है। इसी परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए नूतन परिच्छेद की आवश्यकता दिखाई पड़ी। दूसरे खण्ड में पुन: प्रकृति की मनोरमता में डूबी हुई शीरी दिवा-स्वप्न में तल्लीन है। अपने प्रिय के विषय में अनेक रागमयी कल्पनाएँ उसके मन में चल रही हैं। वह इसी अवस्था में पड़ी रहती है और संध्या का अधिकार फैल जाता है। पक्षियों का कलरव बन्द हो जाता है पर शीरी अपने में डूबी रहती है और दासी आकर उसको प्रकृतिस्थ करती है—"बेगम बुला रही हैं—चलिए, मेंहदी आ गई है।" यहीं दूसरा खण्ड समाप्त हो जाता है। परिच्छेद समाप्ति से यह ध्वनित हुआ कि शीरी बेगम के महल में गई और मेंहदी से संबद्ध क्रिया-कलाप में लग गई। इसके उपरान्त तीसरे खण्ड का आरम्भ होता है, उसमें तो काल-परिवर्तन की शाब्दी घोषणा भी है "महीनों हो गए। शीरीं का ब्याह एक धनी सरदार से हो गया।" इसमें एक महीने की दौड़ समाप्त हो गई है। शीरीं की व्यक्तिगत स्थिति सर्वथा बदल गई है। ऐसी अवस्था में बीच के सारे विस्तार का संकेत देने के लिए परिच्छेद-परिवर्तन की अनिवार्य आवश्यकता थी ही। इस प्रकार संपूर्ण रचना को तीन खण्डों अथवा परिच्छेदों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक परिच्छेद में एक विशेष स्थिति का चित्रण है। उन तीनों में काल और वस्तुस्थिति की भिन्नता का संकेत कर दिया गया है।

प्रेमचन्द की कहानी 'आत्मसंगीत' में परिच्छेद-परिवर्तन की निर्थकता का संकेत किया जा चुका है। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानी 'उसकी मां' में खण्ड-परिवर्तन की न्यूनता का रूप दिखाई पड़ता है। विधानत: चतुर्थ खण्ड की समाप्ति वहाँ हो जाती है जहाँ अदालत के फैसले के बाद लाला और उसके अन्य साथी बूढ़ी मां को उत्स हसे स्वर्ग

परिच्छेद-संकेत का अभाव

आने का आमंत्रण देते हैं और वह राजनीतिक व्यवहार के ज्ञान से सर्वथा विहीन सरला बकर-बकर उनका मुँह ताकती रह जाती है और पूँछती है—"तुम कहाँ जाओगे पगले!" इसके आगे का इतिवृत्त सर्वथा नवीन दृश्य का स्पष्ट संकेत करता है और परिच्छेद-परिवर्तन का आग्रह उपस्थित करता है। इस चतुर्थ खण्ड में मुकदमें के फैसले का प्रसंग है। उक्त स्थल के उपरान्त आगे का दृश्य उस दूरी का ज्ञान करा रहा है, जब जेल से भेजी गई लाल की अन्तिम चिट्ठी उसकी मां को मिलती है और वह उसे लेकर चाचा जी के पास पढ़ाने के लिए जाती है। दोनों दृश्यों के बीच काल का यथेष्ट व्यवधान पड़ चुका है और परिस्थिति सब प्रकार से परिवर्तित हो गई है। ऐसी अवस्था में नवीन खण्ड का उल्लेख वांछनीय था।

आदि, अन्त और मध्य

कहानी के समस्त रचना-प्रकार में तीन स्थल बड़े ही महत्त्व-पूर्ण होते हैं—आदि, अन्त और मध्य। इनमें भी विचारकों ने सामान्यतः आदि और अन्त की विवेचना अधिक की है। इन दोनों में आधार-आधेय-सम्बन्ध बताया है। अन्त प्रतिपाद्य है तो आरम्भ उसकी पूर्वपीठिका। अन्त में जो कहना होता है उसकी भूमिका आरम्भ में स्थिर कर देनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में दोनों का अन्योन्य संबंध स्थापित हो जाता है। जैसा अन्त होना है, उसी के अनुरूप जब आदि को सजाया जाय, तभी यथेष्ट एकोन्मुखता सिद्ध हो सकती है। कहानी के इन दोनों छोरों को जितना सम्हाला जायगा उतना ही कहानी की गोलाई में तनाव पैदा होगा और मध्य का स्थान उस गोलाई का वह मध्यभाग होगा जो सारी गोलाई को संतुलित रखेगा। इसीलिए सामान्यतः उस मध्य-विन्दु को चरम-सीमा के नाम से अभिहित किया जाता है। जिन कहानियों में यह चरमसीमा जितनी ही अधिक मध्यभाग में उभड़ती है, उन कहानियों का सौंदर्य उतना ही अधिक संतुलित हो जाता है। पर 'निरंकुशाः कवयः' के अनुसार यह कृतिकार की प्रौढ़ योग्यता पर अवलंबित है कि मध्य-विन्दु को इधर-उधर हटा-बढ़ा कर भी प्राणमयी रोचकता

तीनों का योग

को अक्षुण्ण बनाए रखे। कहीं-कहीं तो ऐसा भी देखा जा सकता है कि मध्यविन्दु का पता ही नहीं है, अथवा वह चरम-सीमा कहानी की अन्तिम भूमिका पर अवतरित होती है, अर्थात् अन्त से संलग्न रहती है।

'आदि' और 'अन्त' के तारतम्य में 'अन्त' को अधिक महत्व देना चाहिए, क्योंकि मूलभाव के परिपाक का वही केन्द्रविन्दु है। सारी कहानी का प्रभाव उसी स्थल पर आकर समष्टिगत रूप धारण करता है। संवेदनशीलता की सारी झंकृति वहीं पूर्णरूप से बिखरती है, इसलिए प्रायः सभी कहानी-लेखक अपना 'अन्त' सुधारने के लिए बड़े जागरूक रहते हैं। उनकी सारी प्रतिभा का मानदण्ड यहीं निविष्ट समझना चाहिए। 'मध्य' की उपेक्षा की जा सकती है, 'आरम्भ' का दौर्बल्य सहन किया जा सकता है, पर 'अन्त' बिगड़ा तो सब डूबा समझना चाहिए। जिन कहानियों की थोड़ी भी प्रशंसा होती है, उनका यह पर्यवसान-स्थल अवश्य ही उत्तम होगा, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।

नाटकीय आरम्भ

कहानी के लघु-विस्तारी होने का व्यवहारगत प्रभाव उसके आरम्भिक अंश पर बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस रूप में भी आरम्भ की रचना की जाय उसका क्षिप्र और गतिशील होना नितान्त वांछनीय है, अन्यथा सारी कला-सृष्टि अरुन्तुद हो जायगी। इसलिए श्रेष्ठ लेखकों की रचनाओं में यह स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगा कि आरम्भ-स्थल एक विशेष कौशल के साथ सजाया जाता है। इसका सर्वोत्तम रूप नाटकीय समारम्भ में मिलता है। जितने ही वैदग्ध्य-पूर्ण और कुतूहल जिज्ञासा को जगानेवाले संवादों से कहानी का आरम्भ होगा, उतने ही तीव्र आकर्षण से पाठक उस ओर आकर्षित होगा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण यदि देखना हो तो 'प्रसाद' की नाटकीय कहानी 'आकाश दीप' में देखा जा सकता है:—

"बन्दी।"

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो।"

"अभी नहीं—निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डाल कर शीत से मुक्त करता।"

"आंधी आने की संभावना है। यही अवसर है। आज मेरे बंधन शिथिल ह।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?'.

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हलोरें उठने लगीं। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने को स्वतंत्र कर लिया......"

"आकाश दीप"—'प्रसाद'

इसी प्रकार का सामान्य अनुरंजनकारी संवादात्मक समारंभ पंडित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की प्रसिद्ध कहानी 'ताई' में और राजा राधिकारमण सिंह की कहानी 'कानों में कंगना' में भी देखा जा सकता है।

चित्र द्वारा भी आरम्भ का भव्य विधान हो सकता है। यह चित्रण मानव रूप का भी हो सकता है, और प्रकृति रूप का भी।

आरम्भिक चित्र-विधान

इन्हीं चित्रों के भीतर से फूटकर जब कहानी निकल पड़ती है, तो उसका स्वयं में एक प्रभाव उत्पन्न होजाता है और उस प्रभाव की धारा में पाठक कुछ दूर तक चला जाता है। वस्तुतः ये चित्र कहानी

के विषय को स्थापित करने के लिए दिव्य आसन का काम देते हैं। कुशल लेखक इस अंश की लघुता का बहुत विचार करते हैं, थोड़े से विस्तार में और सुन्दर से सुन्दर पदावली के योग द्वारा इसका जितना स्पष्ट अंकन कर सकते हैं उतना ही करते हैं। अपेक्षित से कुछ भी अधिक चित्रण शोभा को बिगाड़ दे सकता है। मानवरूप के भव्य चित्रण द्वारा कहानी का आरम्भ 'प्रसाद' की प्रसिद्ध कहानी 'देवरथ' में दिखाई पड़ता है:—

"दो-तीन रेखाएँ भाल पर, काली पुतलियों के समीप मोटी और काली बरौनियों का घेरा, घनी आपस में मिली रहनेवाली भवें और नसापुट के नीचे हलकी हलकी हरियाली उस तापसी के गोरे मुँह पर सबल अभिव्यक्ति की प्रेरणा करती थीं।

यौवन काषाय से कहीं छिप सकता है ? संसार को दुखपूर्ण समझ-कर ही तो वह संघ की शरण में आई थी। उसके आशापूर्ण हृदय पर कितनी ही ठोकरें लगीं थीं। तब भी यौवन ने साथ न छोड़ा। भिक्षुकी बनकर भी वह शान्ति न पा सकी थी। वह आज अत्यंत अधीर थी।

चैत की अमवास्या का प्रभाव था। अश्वत्थ वृक्ष की मिट्टी सी सफेद डालों पर और तनों पर ताम्र अरुण कोमल पत्तियाँ निकल आई थीं। उनपर प्रभात की किरणें पड़कर लोट पोट हो जाती थीं। इतनी स्निग्ध शैय्या उन्हें कहाँ मिली थी।

सुजाता सोच रही थी। आज अमावास्या है। अमावास्या तो उसके हृदय में सबेरे से ही अन्धकार भर रही थी।........."

"देवरथ"—'प्रसाद'

इसी प्रकार के मानवीय चित्रण का एक सजीव रूप 'गुंडा' शीर्षक कहानी के आरम्भ में भी देखा जा सकता है।

"वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियां नहीं पड़ती थीं। वर्षा की झड़ी में,

पूस की रात की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूँछ बिच्छू के डंक की तरह, देखने वालों की आँखों में चुभती थीं। उसका सांवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा, दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खसा रहता था। उसके घुंघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गंड़ासा, यह थी उसकी धज। पंजों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।

—प्रसाद, 'गुण्डा' शीर्षक कहानी

मनोरम प्राकृतिक चित्र-विधान द्वारा अपनी कहानियों का आरम्भ 'प्रसाद' ने विशेष रूप से किया है। जिस प्रकार चरित्र के विकास-क्रम के अनुसार ही आरम्भ के मानवी चित्र होते हैं, उसी प्रकार कहानी की मूलधारा की प्रकृति के अनुरूप ही आरम्भ के ये प्राकृतिक चित्र होते हैं। जिस भाव की व्यंजना कहानी में करनी रहती है, उसी की ध्वनि आरम्भ के प्राकृतिक वातावरण से भी निकलती दिखाई पड़ती है। इस प्रकार कहानी में एकसूत्रता मुखरित हो उठती है और इस पद्धति पर किया गया आरम्भ भव्य, आकर्षक और उद्दीपक होता है। यों तो 'प्रसाद' की कहानियाँ 'अपराधी', 'ज्योतिष्मती', 'बनजारा', 'स्वर्ग के खड़हर में' इत्यादि में आरम्भिक प्रकृति-निरीक्षण मिलेगा ही, पर उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पुरस्कार' में यह तत्त्व उत्तम रीति से उभड़ा दिखाई पड़ता है। चित्र-विधान के भीतर से कहानी के आरम्भ होने का बड़ा सुन्दर मेल वहाँ बैठाया गया है। यह अंश केवल आकर्षक ही नहीं है, चित्त को सब प्रकार से आबद्ध कर लेने वाला है:—

"आर्द्रानक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देवदुंदभी का गंभीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था---देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समु हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

"पुरस्कार" --प्रसाद

कुतूहलपूर्ण आरंभ

कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि कहानी किसी विशेष कुतूहल की सृष्टि करती आरम्भ होती है। इन आरम्भिक स्थलों में जिज्ञासा, आश्चर्य, रोमांचिकता की अच्छी प्ररोचना दिखाई पड़ती है। विषय को चमत्कारमय ढंग से उपस्थित करना अथवा सहसा रोमांच हो आए, इस ढंग से बात कहना अथवा दादी-नानी वाली कहानी की तरह बात को सुदूर अतीत की कहकर आरम्भ करना ऐसी कहानियों में प्राय: देखा जाता है। एक झटके के साथ आकर्षण को केंद्रित कर देना इस प्रकार के आरम्भों की एक विशेषता होती है। रायकृष्णदास की 'रमणी का रहस्य' और 'प्रसाद' की 'दासी' शीर्षक कहानी के आरम्भ में यह रूप देखा जा सकता है। इसी तरह चतुरसेन शास्त्री की रचना 'खूनी' में विषय बड़े आरोचक ढंग से उपस्थित किया गया है।

"उसका नाम मत पूछिए। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और उस सूरत को आँखों से दूर करने को पागल हुआ फिरता हूँ। पर वह नाम और सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हूँ, वह निडर है, मैं रोता हूँ, वह हँसता है, मैं मर जाऊँगा। वह अमर है।

मेरी-उसकी कभी की जान पहिचान न थी। दिल्ली में हमारी गुप्त सभा थी, सब दल के आदमी आये थे, वह भी आया था।...."

'खूनी'--चतुरसेन शास्त्री

इतिवृत्तात्मक आरम्भ

कहानी के आरम्भ करने का जो साधारण और सामान्य रूप है, वह इतिवृत्त और विवरण से युक्त होता है। अधिकतर कहानियाँ किसी न किसी इतिवृत्त और विवरण के साथ बंधी रहती हैं। इन्हीं आरम्भिक विवरणों और इतिवृत्तों में ऐसा भी हो सकता है कि लेखक अपने मूल भाव को उपस्थित करदे, जैसे प्रेमचन्द की 'नशा' कहानी में। जिन कहानियों का आरम्भ इस प्रकार होता है उसमें रोचकता और नाटकीयता तो अवश्य कम होती है, पर परिचय-पक्ष सुस्पष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द में इस विषय की अद्भुत क्षमता थी। उनकी कहानियाँ 'ईदगाह', 'दो बैलों की कथा', 'सुजान भगत' इत्यादि में विशेषत: इतिवृत्तात्मक आरम्भ का सुन्दर योग मिलता है। वस्तुत: इस पद्धति के अपनाने में कौशल अपेक्षित होता है क्योंकि ऐसी रचनाओं में पूरी आशंका रहती है कि कोई विवरण और इतिवृत्त की उलझन में न फंसना चाहे और इसलिए कहानी को ही छोड़ बैठे। सामान्य अभिरुचि का विचार किया जायगा तो इतना अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि तुलना में इस प्रकार की आरम्भ-पद्धति पाठकों में कम उत्साह और आकर्षण उत्पन्न कर सकेगी, क्योंकि इतिवृत्त और विवरण में एक प्रकार की रूक्षता होती ही है, केवल सिद्धहस्त लेखक ही अपने रचना-सौंदर्य से किसी प्रकार पढ़ने का आग्रह उपस्थित कर सकते हैं।

सीधे-साधे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। धनिक समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चन्द्रमा बली थे। ऊसर में भी दाना छींट जाता, तो कुछ-न-कुछ पैदा हो ही जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई। उधर गुड़ का भाव तेज़ था। कोई दो-ढाई हजार हाथ म

आ गए। बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी, कानूनगो इलाके में जाते, तो सुजान महतो के चौपाल में ठहरते, हल्के के हेड-कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफसर, एक-न-एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग। उनके द्वार पर जब इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते जबान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मंजीरे मंगवाये गये, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कण्ठ तले एक बुंद जाने की भी कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे तो रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब पारावार न था। सबके सामने सिर झुकाए रहता कहीं लोग यह न कहने लगें कि धन पाकर इसे घमण्ड हो गया है। गाँव में कुल तीन ही कुएँ थे, बहुत से खेतों में पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी, सुजान ने एक पक्का कुआँ और बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ। जिस दिन कुएँ पर पहली बार पुर चला, सुजान को मानो चारों पदार्थ मिल गए। जो काम गाँव में किसी ने न किया था, बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

—प्रेमचन्द, 'सुजान-भगत'

कहानी के वृद्धिक्रम में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थल उसका अंत है—चाहे कहानी में चरित्र की झलक हो, चाहे परिस्थिति

और घटना की। जितना भी विवरण कहानी में प्रसरित रहता है, उसका सारा सौंदर्य पुंजीभूत होकर अन्त में आकर एक विशेष प्रकार की 'संवेदनशीलता' को स्फुरित करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से इसी को प्रभावान्वित और समष्टिप्रभाव माना जाता है। यदि कहानी का कोई विज्ञ पाठक होगा तो वह अन्त के रूप को देखकर कहानी की पूर्व की सारी गतिविधि को समझ ले सकता है। 'आरम्भ' की तरह 'अन्त' के विषय में भी विचारने की अनेकानेक बातें हैं; लेकिन एक बात प्रधान है कि आरम्भ और अन्त का पूर्ण संतुलन अत्यन्त आवश्यक होता है। ऐसा कोई नहीं कर सकता कि आरम्भ करे प्रेमचन्द की तरह और अन्त करे प्रसाद की तरह। खोजने से भी ऐसी स्थिति नहीं मिल सकती। इसका मुख्य कारण यही है कि लखक की अभिरुचि और आकांक्षा के अनुसार रचना का गठन होता है। कलाकृति के भीतर लेखक का व्यक्तित्व सना रहता है। इसलिए जैसी शैली आरम्भ म दिखाई पड़ेगी उसी का प्रकृत रूप अन्त में भी होगा। इस प्रकार 'आदि' और 'अन्त' में शैलीगत कोई भिन्नता नहीं दिखाई पड़ सकती।

अंत

विषय की पूर्णता का द्योतन, 'अन्त' का प्रधान लक्ष्य है। जो कहानी कही गई, जिस विचार अथवा भाव का आरम्भ किया गया, जिस चरित्र अथवा घटना की झलक दिखाई गई उसका अन्त क्या हुआ? वह किस रूप में एक निश्चिय पर पहुँची—इसका आभास अन्त में साफ-साफ मिल जाना चाहिए। चरित्र और परि-स्थितियों से प्रेरित होकर, किस वातावरण में किसने क्या किया इस सम्बन्ध में उत्पन्न जो भी कुतूहल या जिज्ञासा होती है उसका पूरा-पूरा समाधान अन्त में आना ही चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि समाधान अथवा जिज्ञासा-तृप्ति इष्ट न हो तो फिर

पूर्णता-बोध

'अन्त' ऐसा अवश्य होगा कि कल्पना और अनुमान को इस रूपमें जगाए कि आगे के रूप की सारी चिन्तना स्पष्ट हो जाय। सामान्यतः इस प्रकार के कल्पना और अनुमान को उद्‌बुद्ध करनेवाले 'अन्त' अधिक भावुक और परिष्कृत पाठकों के लिए ही होते हैं। किसी भी प्रकार की कहानी में 'अन्त' प्रसरित संपूर्ण इतिवृत्त का सार-भूत अंश होता है। यहाँ आकर कहानीकार और पाठक का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।[1]

लघप्रसारी अन्त

कहानी का समाप्ति-स्थल भी सरल और लघु प्रसारगामी होना चाहिए। कारण-कार्य के विस्तार में तो पाठक का मन और अभिरुचि लगी रहती है, पर परिणाम का संकेत मात्र यथेष्ठ होता है; उसके विस्तार में आकर्षण की कोई वस्तु नहीं रह जाती। आवश्यकता इस बात की अवश्य रहती है कि बात साफ हो जाय। अन्त का बोध या अनुमान होते ही चित्त पुस्तक पर से उचट कर कछुए की मूड़ी की तरह भीतर चला जाता है। फिर बाहर अध्ययन की कोई बात तो रह नहीं जाती—इसलिए कहानी का अन्त जितना ही आकस्मिक और लघु होगा उतना ही रचना-कौशल सफल मालूम पड़ेगा। इस स्थल पर आकर न तो किसी प्रकार के विवरण को उपस्थित करना अभीष्ट होना चाहिए, न परिणाम के विस्तृत परिचय देने की; न किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के चक्कर में पड़ना चाहिए और न किसी प्रकार के उपदेश-प्रपंच फैलाने की चेष्टा की जानी चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात होनी चाहिए कि कहानी में उठाई गई कोई समस्या अथवा प्रश्न का कोई लम्बा उत्तर यहाँ आकर न फैलाया जाय। यहाँ तो ऐसा सीधा और लघु इतिवृत्त हो कि सम्पूर्ण अन्तरंग स्थिति को एकदम अनावरित कर दे; अथवा इसी प्रकार के निश्चय अथवा निश्चय-

1. *Barrett : Short Story Writing, pp*. 171.

बोधक किसी कार्य की व्यंजना, पात्र के संवाद और चरित्र से ध्वनित हो।[1] यहाँ यह संकेत करना आवश्यक है कि कहानी के ऐसे भी कुछ कथानक हो सकते हैं, जिनमें पूर्णता का संकेत करनेवाला कोई सारांश ही अपेक्षित न हो। जिन कहानियों में केवल विशेष प्रकार का कोई दृश्य-विधान ही लक्ष्य होता है, वहाँ अन्त म निश्चय किस रूप में प्रतिफलित दिखाया जायगा। **मोहनलाल महतो 'वियोगी'** की कहानी **'पाँच मिनट'** में इसी प्रकार की बात दिखाई देती है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि कहानी का एक समाप्ति-स्थल होता है। न तो उस बिन्दु से आगे कहानी जा सकती है और न उसके पूर्व छोड़ी जा सकती है। इस बिन्दु का ध्यान जो लेखक जितना ही अधिक रखता है उसकी कहानी उतनी ही अधिक रचना-चातुरी से पूर्ण मालूम पड़ती है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि लेखक का यश और उसकी कीर्ति इस स्थिति को बचाने में योग दे सके। ऐसा हो सकता है कि अच्छे से अच्छा भी लेखक इस रचनात्मक मार्मिकता को ठीक से न समझ या परख सके।

अब थोड़ा विचार उन रूपों और पद्धतियों का भी कर लेना चाहिए जिनका प्रयोग कहानी का अन्त करते समय श्रेष्ठ कलाकारों ने किया है। जितने भी ऐसे रूप हो सकते हैं उनमें कहानी की समाप्ति का नाटकीय ढंग सबसे ज्यादा अच्छा होता है। आरम्भ के नाटकीय

नाटकीय अन्त

अंश में संवाद-वैदग्ध्य जैसा मनोरंजक मालूम पड़ता है वैसा अन्त में नहीं। अन्त-स्थल में विषय की संपूर्णता से संभूत, मस्तिष्क और हृदय का, जो मन्थन चलता रहता है, उसमें वाग्वैदग्ध्य के लिए अधिक स्थान नहीं रह जाता। वहाँ आवश्यकता इस बात की रहती है कि बात तो थोड़ी हो, लेकिन मानस-मन्थन के लिए वह तीव्र उद्दीपन का काम करे। इसलिए नाटकीय अन्त का तात्पर्य संवादात्मक नहीं मानना चाहिए। यों तो कुछ श्रेष्ठ कृतिकारों ने लम्बे संवाद के साथ

1. *Albright : Short Story, pp.* 80.

कहानी का अन्त कराया है। परन्तु उस स्थल पर लम्बे संवादों में न तो कोई चमत्कार दिखाई पड़ता है न कोई संवेदन का आग्रह, जैसे **प्रेमचन्द** की कहानी '**नशा**' में।

नाटकीय अन्त में सौन्दर्य की बात चित्र-विधान है। यह चित्र विधान चाहे क्रियागत हो जैसा '**प्रसाद**' की अनेकानेक कहानियों—नीरा, नूरी इत्यादि—में दिखाई पड़ता है, अथवा वातावरण का ऐसा सजीव चित्रण हो जो भावानुरूप चित्त को स्फुरित करने में योग दे, जैसे—**अज्ञेय** की कहानी '**रोज**' में, अथवा **प्रसाद** की कहानी '**ग्रामगीत**' में। आन्तरिक निश्चय और उसकी अनुभावगत व्यंजना के साथ कहानी की चमत्कारमयी समाप्ति का सिद्धरूप **प्रसाद** की दो कहानियों—'**पुरस्कार**' और '**गुण्डा**' में देखा जा सकता है।

(१)

मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशलनरेश न पूछा—"मधूलिका तुझे जो पुरस्कार लना हो माँग।" वह चुप रही।

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खती है, मैं सब तुझे देता हूँ।"

मधलिका ने एकबार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा मुझे कुछ न चाहिए। अरुण हंस पड़ा। राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले—"

"तो मुझे भी प्राणदंड मिले।" कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

"पुरस्कार"—प्रसाद

(२)

नन्हकू सिंह न ललकार कर चेतसिंह से कहा—"क्या आप देखते हैं? उतरिये ोंगी पर!—उसके घाओं से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर आने लगे थे।

चेतसिंह [ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलंगों की संगीनों में वह अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है। गुंड का एक एक अंग कट कर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुंडा था।

"गुंडा"—प्रसाद

जिन कहानियों में इतिवृत्त की प्रधानता होती है, उनका अन्त भी इतिवृत्तात्मक ही होता है—सामान्यतः यही रूप अधिक प्रचलित है। इसमें या तो चरित्र का उत्कर्ष स्थापित कर लेने के बाद कुछ बातें उसी से सम्बद्ध आगे और कही जातीं हैं, जो कि पूरक इतिवृत्त के रूप में रहती हैं, जैसे—**प्रेमचन्द** की कहानी '**सुजान भगत**' में अथवा **प्रसाद** की रचना '**मधुआ**' में। इसी तरह यदि कहानी के अन्त में आते-आते कोई महत्वपूर्ण घटना दिखाई गई है तो फिर उसी घटना के प्रभाव-विस्तार को लेखक इतिवृत्त के रूप में उपस्थित करने लगता है, जैसे साद की कहानी '**आँधी**' में, और **राधाकृष्ण** की '**मैना**' में। **विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक**, की प्रसिद्ध कहानी '**ताई**' में भी यही रूप दिखाई पड़ता है। इस प्रकार इतिवृत्तात्मक अन्त के भीतर कारण रूप से कहीं चरित्र हो सकता है और कहीं घटना। उक्त कहानियों के अतिरिक्त **प्रसाद** की '**विजया**', **कौशिक** की '**इक्के वाला**', और सुदर्शन की 'एथेन्स का सत्यार्थी' कहानियों में भी इस प्रकार के रूपों को देखा जा सकता है।

इतिवृत्तात्मक अन्त

इन इतिवृत्तात्मक अन्तों को देखकर ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ कहानीकार प्राचीन रूढ़िवादी परम्परा का पालन करते हैं—जहाँ अन्त तक आते-आते कहानी कहनेवाला कहने लगता है—"**जैसे उनका राजपाट लौटा वैसे ही सब का लौटे**" अथवा "**राजा-रानी के**

मिलन से सब लोग बहुत प्रसन्न हो गए और बड़ी धूम-धाम से जुलूस निकाला और उत्सव मनाने का प्रबन्ध किया जाने लगा।"[१] वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि समाप्ति-स्थल की इन पद्धतियों में बालकोचित जिज्ञासापूर्ति के साधन अधिक दिखाई पड़ते हैं; इसलिए विकसित और परिष्कृत बुद्धिवाले पाठकों को यह अधिक प्रिय नहीं मालूम पड़ सकता। इस प्रकार के 'अन्त' न तो आकर्षक होते हैं और न हृदय में किसी प्रकार की चेतना जगानेवाले। नितान्त आधुनिक लेखकों में अन्त को बुद्धि-उत्तेजक बनाने की पूरी तत्परता दिखाई पड़ती है; परन्तु अभी तक के पुराने सभी कहानीकारों में विषय की पूर्णता के साथ इतिवृत्त देने की परिपाटी गृहीत होती चली आ रही है। इस प्रसंग की उक्त सभी कहानियों में इसी रूप का विहार मिलेगा:—

(१)

"वह साथ ले जानेवाली वस्तुओं को बटोरने लगा। एक गट्ठर का और दूसरा कल का, दो बोझ हुए।

शराबी ने पूछा—तू किसे उठायेगा?

"जिसे कहो।"

"अच्छा, तेरा बाप जो मुझको पकड़े तो?"

---

१. "The story should conclude unless there is special reason why it must not. But it should not be carried far past the climax and smoothed down into dulness and conventionality. "And so they were married and lived happily ever after." has gone out of date ; but the practices still survive in endings such as these : "Indeed, the whole family were delighted to have Robert in their home, and he never forgot the debt of gratitude he owed to them."

—*Albright* : *The Short Story*, *pp*. 81.

"कोई नहीं पकड़ेगा, चलो भी। मेरे बाप मर गए।"

शराबी आश्चर्य से उसका मुँह देखता हुआ कल उठा कर खड़ा हो गया। बालक ने गठरी लादी। दोनों कोठरी छोड़ कर चल पड़े।"

"मधुआ"—प्रसाद

(२)

"रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार में पड़ी रही। कभी-कभी जोर से चिल्ला उठती और कहती—'देखो देखो वह गिरा जा रहा है। उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।' कभी वे कहतीं—बटा मनोहर मैंन तुझे नहीं बचाया। हां, हां मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंन देर कर दी।'—इसी प्रकार के प्रलाप वे किया करतीं।

मनोहर की टांग उखड़ गई थी। टांग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगी।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—'मनोहर कैसा है?'

रामजी दास ने उत्तर दिया—'अच्छा है।'

रामेश्वरी—उसे मेरे पास ले आओ।

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई, हिचकियों से गला रुंध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गई। अब वे मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और मनोहर तो अब उसका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

"ताई"—कौशिक

कभी-कभी कहानी का अन्त पूर्णता-विधायक होने के साथ-साथ चारित्रिक विभूति की परमावस्था का स्थापक भी हो जाता है;

संयुक्त अंत

अर्थात् कहानी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसके प्रधान पात्र के चरित्र में निखार आ जाता है और इतिवृत्त की समाप्ति उसी निखार को आलोकित करने में नियोजित होती है। ऐसी स्थिति में कहानी का मूलभाव भी आकर अन्त के साथ इस प्रकार समन्वित हो उठता है कि उस समष्टिप्रभाव के रूप में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा की कहानी 'शरणागत' में यह बात बहुत स्पष्ट है। "......... **दाऊ जू ने कहा—न आना। मैं अकेले ही बहुत कर गुजरता हूँ। परन्तु बुन्देला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात की गांठ बांध लेना।**"

इसके पूर्व प्रकारान्त से कहा जा चुका है कि कहानियों का कथानक मूलतः दो पद्धतियों पर गठित होता है। प्रथम पद्धति के

मध्य का अभाव

अनुसार किसी चरित्र, घटना अथवा भाव का चित्र ऐसे कौशलपूर्ण ढंग से उपस्थित किया जाता है कि वह हमारी संपूर्ण वृत्तियों को अभीभूत कर लेता है। चित्र-विधानवाली ऐसी कहानियों की पूर्व-पीठिका के रूप में केवल एक दृश्य सजाया जाता है, और वही कहानी के वृत्त-प्रसार का एकमात्र रंगपट होता है। उसमें भाव की तीव्रता के अनुरूप थोड़ा पूर्वापर का विचार किया जाता है, पर एक ही पट पर अथवा दृश्य में उस सारे पूर्वापर को झलकाने की चेष्टा की जाती है। ऐसी कहानियों में इतिवृत्त का प्रसार प्रायः कम मिलेगा और वस्तु की इस न्यूनता के कारण सारा प्रभाव एकत्र ही सिमटा मालूम पड़ता है। इस प्रकार की चित्रात्मक कहानियों का अच्छा रूप प्रेमचन्द की कहानी 'आत्मसंगीत' अथवा 'प्रसाद' की कहानी 'समुद्र-संतरण' अथवा मोहनलाल महतो 'वियोगी' की कहानी 'पाँच मिनट' में देखा जा सकता है। इन कहानियों में एक ही भूमिका पट अथवा

दृश्य से काम चल गया है। अत्यन्त लघु प्रसारवाली जो कहानियाँ होती हैं और जिनमें किसी चरित्र, भाव अथवा घटना की एक झलक का देना ही लक्ष्य रहता है, उनमें विषय के एकत्व के साथ-साथ संकलनत्रय का भी योग देखा जा सकता है। इस योग के कारण एक भाव अथवा व्यापार की सिद्धि एक ही देश और काल में एक ही पट पर चित्रित दिखाई जाती है। इसलिए ऐसी कहानियों में केवल उद्दीप्त प्रभाव का ही रूप मिलेगा। प्रभावों के अन्वित होने की क्रिया का विस्तारक्रम वहाँ दृष्टिगोचर न होगा। विचार की बात यहाँ यह है कि ऐसी कहानियों में न तो कथा की अधिकता रहती है, न संघर्ष-चित्रण द्वारा किसी इतिवृत्त के प्रसरित होने का प्रश्न होता है। इसलिए इनमें 'आदि' और 'अन्त' के बीच की किसी 'चरम-सीमा' अथवा मध्यविन्दु के विचार करने का कोई अवसर ही नहीं उठता। ऐसी कहानियों के कथानक में त्रिकोण का रूप नहीं बनता अर्थात् वहाँ 'आरम्भ' और 'अन्त' के बीच में दूरी नहीं रखी जाती; केवल किसी परिस्थिति अथवा दृश्य की सिद्धावस्था ही सामने लाई जाती है। यह तो हो सकता है कि इस सिद्धावस्था को चित्रित करने के पहले कुछ आरम्भ का संकेत मिल जाय।

मध्य-भाग

इससे भिन्न कहानियों का दूसरा वर्ग वह होता है जिनमें कथा भाग अथवा इतिवृत्त अधिक प्रसारमय होता है, और जिनमें कारण-कार्य-परिणाम का विधिवत् और क्रमिक संयोजन मिलता है। इनमें कुछ परिस्थितियों से संगठित होकर कथानक का स्वरूप तीव्र गति से उत्कर्ष की ओर जाता है और वहाँ पहुँचकर अपने पूर्ण वैभव का प्रसार करता है। वहीं पहुँचकर पाठक का चित्त कुतूहल, जिज्ञासा अथवा ऊहापोह से भर उठता है और वह कहानी के पर्यवसान के विषय में कल्पना और अनुमान के बल पर नाना प्रकार से चिंतन करने लगता है। चतुर लेखक ऐसे ही स्थल पर कहानी के मूलभाव का भी संकेत देते हैं। 'सुजान भगत' म 'लाग जीवन

में बड़े महत्व की वस्तु है' इसी मूलभाव का प्रतिपादन किया गया है और यह वाक्य जिस स्थल पर कहा गया है, वहीं कहानी का चरम-उत्कर्ष भी मानना होगा। इसी तरह विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की कहानी 'ताई' में भी चरम-उत्कर्ष और भाव-कथन का संक्रमण हो गया है। 'प्रेम से ममत्व और ममत्व से प्रेम की सृष्टि होती है' यह जिस स्थल पर कहा गया है वहीं कहानी का मध्य-विन्दु है।

मध्यबिन्दु का स्थान निर्देश

सुनिर्दिष्ट आरम्भ और अन्त के बीच में मध्यविन्दु अथवा चरम उत्कर्ष को देखने के लिए उक्त कहानियों के अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी की 'अपत्नीक', प्रेमचन्द की 'ऐक्ट्रेस', और 'अग्नि समाधि' अथवा 'प्रसाद' की 'देवरथ' व 'मधुवा' कहानियों को देखा जा सकता है। इनमें आरम्भ और अन्त का संतुलन करता हुआ, 'मध्य' अच्छे ढंग से निरूपित हुआ है। यह मध्यविन्दु वहीं स्फुट होता है जहाँ कहानी का आदि और अन्त प्रायः संतुलित-सा होता दिखाई पड़े लेकिन इसकी स्थापना का कोई स्थिर स्थान नहीं बताया जा सकता। कृतिकार की प्रतिभा इतने नए-नए प्रकार के मोड़ निरन्तर लिया करती है कि इस विषय में कोई स्थायी सिद्धान्त बनाने से काम नहीं चल सकता। न जाने कितने लेखक हैं, जो कि इस चरम उत्कर्ष और मूलभाववाले स्थल को आगे-पीछे बहुत-कुछ खसका लेते हैं, फिर भी सौंदर्य में कोई विकृति नहीं आने पाती। अतएव कहानी के समस्त विस्तारक्रम में यह मध्यविन्दु अथवा जिज्ञासा और कुतूहल के पूर्णतया प्रबुद्ध होने का स्थल कहाँ होना चाहिए और कहाँ किस स्थल पर इसकी स्थापना अनुचित हो सकती है—इसका कोई निश्चयात्मक सिद्धान्त नहीं स्थिर किया जा सकता। श्रेष्ठ कृतिकारों की विभिन्न रचनाओं में इसके व्यवहार की अपनी-अपनी पृथक् पद्धति मिलती है।

इस विषय में सामान्यतः दो बातें कही जा सकती है। पहली बात का सम्बन्ध कहानी के कथानक तत्व से है । इसमें आरम्भ और अन्त के बीच का सारा प्रसार चरम-सीमा अथवा मध्य-विन्दु का क्रीड़ा स्थल मानना चाहिए इस बीच की सारी दौड़ में कहीं भी उस मध्यविन्दु की स्थापना हो सकती है। उचित तो यही है कि आरम्भ और अन्त के मध्य में उसका रूप स्फुट हो। आरम्भ से चलकर कहानी का मूल विषय चाहे वह चरित्र हो, चाहे घटना और भाव—एक क्रम से और एकनिष्ठ होकर आगे बढ़ता है। इस बढ़ने में शनैशनैः जैसे गति तीव्र होती जाती है, उसी प्रकार प्रभाव भी सिमिट कर घनीभूत होता जाता है। इस विस्तारक्रम में कथानक जिस समय तीव्रतम गति से पर्यवसान की ओर मोड़ लेता है, उसी को कहानी का मध्यविन्दु समझना चाहिए। इसे हम कहानी के मैदान की उच्चतम भूमि कह सकते हैं। जो परिष्कृत बुद्धिवाले सहृदय होंगे वे इसके सच्चे स्वरूप को पहचान कर उसके महत्व का ज्ञान कर सकते हैं। सामान्यतः अंग्रेजी के लेखक भी इस मध्यविन्दु के महत्व-निरूपण में कुछ आनाकानी कर गए हैं; लेकिन इससे कथानक के इस अंश का महत्व कम नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः यथार्थ तो यही है कि कुशल समीक्षक का ध्यान कहानी के सम्पूर्ण प्रसार में इसी मोड़ की ओर आकृष्ट होता है। इस घुमाव अथवा मोड़ के ऊपर खड़े होकर हम पूर्व में वृद्धिक्रम को स्थिर होते भी देखते हैं और साथ ही अन्तोन्मुख निर्गति का सारा सौंदर्य हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। यदि इस स्थल का सच्चा रूप समझने का योग मिल सके तो यह स्पष्ट हो सकता है कि इसके पूर्व कथा का क्या और कैसा क्रम रहा होगा और आगे का क्रम कैसा चलेगा। यदि चरित्र से कहानी का आरम्भ हुआ है तो मध्यविन्दु प्रायः उस स्थल पर आना चाहिए जहाँ पहुँच कर वह चरित्र अपने पूर्व के संपूर्ण संचित बल को लेकर विद्युत्गति से लक्ष्य की ओर टूटता

मध्यविन्दु का सौन्दर्य

है अथवा मुड़ता है—जैसे 'प्रसाद' की कहानी 'गुण्डा' में। यदि कहानी का प्रतिपाद्य क्रिया अथवा कर्म की वश्यता में नहीं है और केवल किसी भावगत चित्रांकन में ही कहानी का पर्यवसान होना है, तब मोड़ के उपरान्त क्रिया का वेग ही विद्युत्गति से फैलता नहीं मिलेगा, वरन् कर्म-विहीन उसी भाव की छाया का ही विस्तार होता अन्त तक चला आएगा जिसका आलोकपूर्ण रूप पूर्व चरम सीमा अथवा मोड़ पर दिखाई पड़ा रहा होगा—जैसे पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानी 'उसकी मां' में मिलता है। अब विषय को स्पष्ट करने के अभिप्राय से उन दोनों कहानियों के मध्यविन्दुओं का निरूपण करके यहाँ देखा जाय।

"दुलारी नन्हकू के पास बैठ गई। नन्हकू ने कहा क्या—"तुमको डर लग रहा है?"

"नहीं मैं कुछ पूछने आई हूँ।"

क्या?"

"क्या..यही कि...कभी तुम्हारे हृदय में..।"

"उसे न पूछो दुलारी। हृदय को बेकार समझ कर ही तो उसे हाथ में लिए फिर रहा हूँ। कोई कुछ कर देता—कुचलता—चीरता—उछालता। मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ; पर मरने नहीं पाता।

"मरने के लिए भी कहीं खोजने जाना पड़ता है। आपको काशी का हाल क्या मालूम। न जाने घड़ी भर में क्या ो जाय। उलट पलट होने वाला है क्या; बनारस की गलियाँ जैसे काटने दौड़ती हैं।"

"कोई नई बात इधर हुई है क्या?"

"कोई हेस्टिंग साहब आया है। सुना है कि उसने शिवालाघाट पर तिलंगों की कंपनी का पहरा बैठा दिया है। राजा चेतसिंह और राजमाता पन्ना वहीं है। कोई कोई कहता है कि उनको पकड़ कर कलकत्ते भेजने..."

"क्या पन्ना भी..रनवास भी वहीं है"...नन्हकू अधीर हो उठा था।

"क्यों बाबू साहब, आज रानी पन्ना का नाम सुनकर आप की आँखों में आँसू क्यों आ गए !"

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा। उसने कहा--"चुप रहो, तुम उसको जानकर क्या करोगी।" वह उठ खड़ा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा। फिर स्थिर होकर उसने कहा--"दुलारी ? जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकांत रात में एक स्त्री मेरे पलंग पर आकर बैठ गई है, मैं चिरकुमार ! अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैंकड़ो असत्य, अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों ? तुम जानती हो ? मैं स्त्रियों का घोर विद्रोही हूँ और पन्ना !...किन्तु उसका क्या अपराध ! अत्याचारी बलवन्त सिंह के कलेजे में बिछुआ म न उतार सका। किन्तु पन्ना ! उसे पकड़ करे गोरे कलकत्ते भेज देंगे ! वही...।

नन्हकू सिंह उन्मत्त हो उठा था। दुलारी ने देखा, नन्हकू अन्धकार में ही वट वृक्ष के नीचे पहुँचा और गंगा की उमड़ती हुई धारा में डोंगी खोल दी--उसी अन्धकार में। दुलारी का हृदय काँप उठा।

"गुंडा"--प्रसाद

'गुण्डा' शीर्षक कहानी में केवल तीन खण्ड अथवा परिच्छेद हैं और उक्त उद्धरण द्वितीय खण्ड का अन्तिम स्थल है। इसके पूर्व का समस्त प्रसार केवल प्रधान पात्र नन्हकू सिंह के व्यक्तित्व के अनूठेपन को उभाड़ने में लगा है, उसके चरित्र का मर्म क्या है इसे यहाँ खोला गया है--उसके गुण्डापन की नीव में और उसकी निर्भीक साहसिकता के भीतर किसी नारी के प्रेम की निर्मम विकलता भरी हुई है। आरम्भिक जीवन की उसी पीड़ा से पीड़ित होकर वह अपनी जान को हथेली पर लिए फिरता है। जिसने इस पीड़ा को दिया है उसी का आज भयंकर नाश होने जा रहा है--इसका जब उसे अनुमान होता है तो वह उद्दीप्त हो उठता है; उसका समूचा अर्न्तजगत कोलाहल कर उठता है। यहीं से उसके चरित्र और जीवन

का वह खण्ड आरम्भ होता है जो उसे अमर बना देता है, जिसके कारण वह दुर्जेय वीरता के लिए प्रस्तुत होता है और आत्मबलिदान द्वारा अपने और राजमाता पन्ना के आरम्भिक प्रेम को उत्सर्गमय बनाने के लिए सन्नद्ध होता है। यहीं पर किए गए निश्चय के आधार पर वह अन्त में टुकड़े-टुकड़े होकर कटता है; फिर भी पन्ना को बचाता है और अपने प्रेम की भावना को पूर्णाहुति प्रदान करता है, अपने चरित्र को निखारता है। इस स्थल से कहानी का सारा वेग तीव्रतम रूप धारण करता है और यहाँ से अन्त तक चारित्रिक विकास भी विद्युत्-आलोक से भर उठता है। इसलिए कहानी के इसी अंश को मध्यविन्दु मानना चाहिए।

"मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गयी, जिस दिन ऊँची अदालत ने भी लाल को, उस बंगड़ लठैत को तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कड़ी सजाएँ दीं।

वह अदालत के बाहर झुकी खड़ी थी। बच्चे बेड़ियाँ बजाते, मस्ती से झूमते, बाहर आये। सबसे पहले उस बंगड़ की नजर उस पर पड़ी——

"मां! वह मुस्कराया——"अरे, हमें तो हलवा खिला-खिला कर तूने गधे-सा तगड़ा कर दिया है ऐसा कि, फ़ांसी की रस्सी टूट जाय और हम अमर के अमर बने रहें। मगर तू स्वयं सूख कर काँटा हो गयी है। क्यों पगली——तेरे लिये घर में खाना नहीं है क्या?——

"मां!" उसके लाल ने कहा——"तू भी जल्दी वहीं आना, जहाँ हम लोग जा रहे हैं। यहां से थोड़ी देर का रास्ता है मां। एक साँस में पहुँचेगी। वहीं, हम स्वतंत्रता मे मिलेंगे। तेरी गोद में खेलेंग। तुझे कन्धे पर उठा कर इधर-से-उधर दौड़ते फिरेंगे। समझती है? वहाँ बड़ा आनन्द है।"

"आवेगी न माँ ?" बंगड़ ने पूछा।

"आवेगी न माँ ?" लाल ने पूछा।

"आवेगी न माँ ?" फाँसी-दंड-प्राप्त दो दूसरे लड़कों ने भी पूछा। और वह बकर बकर उनका मुँह ताकती रही—"तुम कहां जाओगे पगले ?"

'उसकी माँ'—पाण्डेय बेचन शर्मा

'उग्र' की इस कहानी में मां की मातृ-भावना की तीव्रता और सहज सरलता का स्वरूप अधिकाधिक उभाड़ा गया है। पूरी रचना चार खण्डों में विभाजित है। प्रस्तुत अंश चौथे खण्ड का है। यहाँ तक पहुँचने के पूर्व तक के विस्तार में लेखक ने केवल माता के सरल हृदय का यथार्थ चित्रण किया है। लाल और उसके अन्य युवक मित्र किसी राजनीतिक षड्यन्त्र में इतनी तीव्रगति से आगे बढ़ गए यह उसे नहीं मालूम पड़ा। उसके प्यारे बच्चे ऐसा कुछ कर सकते हैं—यह संसार माने पर उसका निष्कपट चित्त स्वीकार ही नहीं कर सका और उसे दृढ़ विश्वास था कि मुकदमे में कुछ दम नहीं है। वे बच्चे नितान्त दूध के धोए हैं और उन पर किसी प्रकार की आँच नहीं आ सकती—यही उसकी निश्चित धारणा थी। वह सरला और अपढ़ समाज और राजनीति की गतिविधि से बिलकुल कोरी थी। विषय और परिस्थिति की गहनता का उसे कोई ज्ञान नहीं था। लाल और उसके अन्य युवक साथी जो गोला-गोली या बन्दूक की बातें करते हैं, उसे वह ममताभरी माता केवल पढ़े-लिखों की अण्ट-सण्ट बकबक मात्र समझती है। चाचाजी के भयावह कथन और आशंका प्रकट करने से भी वह निरीह कुछ समझ नहीं पाती और मुकदमा के दौरान में भी अपने बच्चों को केवल बातूनी ही समझती है। 'भला फूल-से बच्चे हत्या कर सकते हैं!'—ऐसा कुछ उसके मस्तिष्क में आ ही नहीं सकता। उसको अन्त तक यही विश्वास रहा कि यह सब पुलिस की चालबाजी है। अदालत

में जब दूध का दूध और पानी का पानी किया जायगा तब वे बच्चे जरूर बेदाग छूट जायेंगे। परन्तु अन्त में अन्यथा सिद्ध हुआ। फिर भी वह सरला कुछ समझ ही न सकी और बच्चों की उल्लास एवं उत्सर्ग भरी व्यंग्योक्तियों का यथार्थ बोध उसे नहीं हो सका। वह बकर-बकर उनका मुँह ताकती रही और सरल-सा प्रश्न करती रही—'तुम कहाँ जाओगे पगले ?'

यदि रचना-विधान का यथार्थ रूप समझने की चेष्टा की जाय तो बिना विशेष विवाद के समझा जा सकता है कि इस स्थल पर खण्ड की समाप्ति हो जानी चाहिए और आगे की सारी कथावस्तु के लिए पाँचवें खण्ड का निर्देश होना चाहिए। यदि ऐसा कुछ नहीं भी होता तो भी कहानी का मध्य और चरम उत्कर्ष का स्थल यही है; क्योंकि उस गरीब सरला माता के ममत्व की निरीह स्थिति इससे बढ़कर और क्या हो सकती है। उसके प्यारे बच्चे फांसी के लिए चले जा रहे हैं, वह न उनकी हँसी, उल्लास और उत्साह के स्वरूप को समझ पाती और न उसे स्थिति की गम्भीरता का ही बोध हो पाता। इसके आगे का कथांश उस बूढ़ी माता के मर्मान्त की विवृत्ति मात्र है। लाल का पत्र पाकर और सुनकर किस प्रकार उसे धक्का लगा और किस प्रकार उसके प्राण पखेरू उड़ गए इसी का आगे विवरण दिया गया है। अन्त को देख कर पाठक माता के सहज और सच्चे स्नेह की गुरुता से अवाक् रह जाता है। मध्य की भावापन्नता अन्त में आकर पूर्णतया संतुलित दिखाई पड़ती है।

इस प्रसंग में जो दूसरी बात विचार करने की है, वह है चरम सीमा और कहानी के मूलभाव का सम्बन्ध। यों तो पहले कहा जा

मध्य भाग और मूलभाव का पार्थक्य

चुका है कि कभी-कभी चतुर लेखक इन दोनों का सुन्दर और औचित्यपूर्ण संयोग एक साथ ही बैठा लेते हैं परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से इस प्रकार की संगति को अनिवार्य नहीं समझना चाहिए। मूलतः दोनों दो अलग-अलग बातें हैं। चरम-सीमा का सम्बन्ध

कहानी के कथानक से है, और प्रेरकभाव अथवा मूलभाव का सम्बन्ध कहानी के प्रतिपाद्य से है। इसीलिए ऐसा भी हो जा सकता है कि दोनों विच्छिन्न हो जायँ। सामान्यतः मूलभाव का शाब्दी कथन कहानी के बीच में होता मिलेगा, पर इस विषय में कृतिकार की अभिरुचि ही निर्णायक होगी, नियम नहीं। ऐसी भी कहानियाँ हैं जिनमें आरम्भ करते ही मूल-भाव का संकेत दे दिया गया है; जैसे—प्रेमचन्द की रचना 'नशा' में। साथ ही ऐसी भी कहानियाँ हैं जिनमें उसका कथन अन्त में जाकर दिया जाता है, जैसे—वृन्दावनलाल वर्मा की कहानी 'शरणागत' में। सारांश कहने का यह है कि चरमसीमा का मध्यभाग में स्फुट होना कहानी के संतुलन के लिए आवश्यक है, पर मूलभाव की स्थापना अभिरुचि और विषय-प्रसार के अनुरूप किसी अवसर पर भी की जा सकती है।

मध्य का महत्व

कहानी-रचना के सिद्धान्तों का विचार करते समय एक बात प्रायः सर्वसम्मत रूप में दिखाई पड़ती है कि मध्यभाग की अपेक्षा आदि और अन्त के महत्व की विवेचना बहुत अधिक की गई है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आदि और अन्त को पूर्णतया सजा देने के बाद बीच की सारी दौड़ को केवल कूड़ा-कचड़ा से भर दिया जा सकता है।[1] वस्तुतः बात इसके ठीक विरुद्ध है। आरम्भ और अन्त का संपूर्ण सौंदर्य अवलम्बित रहता है मध्य की प्रसार-पद्धति पर। एक दृश्यवाली कहानियों के विषय में तो नहीं कहा जा सकता परन्तु प्रसरित इतिवृत्तवाली जो कहानियाँ होती हैं, उनमें यह आवश्यक होता है कि आरम्भ से चरमसीमा तक ही की सम्पूर्ण घटनावली अथवा परिस्थिति-योजना इस प्रकार सीढ़ी की तरह सजाई जाय कि कथा के विकास में प्रकृतत्व का पूर्ण सन्निवेश हो सके और प्रभाव-समष्टि का रूप निखरता चले। इसके लिए अनिवार्यतः कसी प्रकार की शिथिलता अथवा अवांछित बातों के भरने की चेष्टा इस अंश में

1. *Machonochie, D: The Craft of the Short Story*, 1936, *pp*. 20.

नहीं करनी चाहिए। कहानी के उतारवाले स्थल पर और अधिक सावधान रहने की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि चरमसीमा से लेकर अन्त तक की दौड़ अपेक्षाकृत कुछ छोटी होती है। यहाँ संवेदनशीलता का आग्रह अधिक निर्णयात्मक अथच प्रभावशाली दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में उस निगति खण्ड में इस बात के और भी बचाव की आवश्यकता रहती है कि निरर्थक अथवा अनावश्यक विषय न प्रवेश पा सकें।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आरम्भ से अन्त तक का जितना भी प्रसार कहानी में होता है उसमें कोई स्थल ऐसा नहीं रहता जिसमें निरर्थक और अनावश्यक बातों के लिए कहीं स्थान मिले। आरम्भ से चरमसीमा तक की कड़ियों का तर्कपूर्ण ढंग से सजाने में और चरमसीमा से अन्त तक के अंश को आवेगपूर्ण बनाने में कहानीकार का कौशल लगा रहना चाहिए। लघुप्रसारवाली रचना होने के कारण कहानी में एक भी बेमतलब की बात बिना सौंदर्य और सौष्ठव को दूषित किए नहीं आ सकती। प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में जो युद्धभूमि का विवरणात्मक वर्णन बीच में फैल गया है, वह मात्रा, से अधिक होने के कारण अवांछित-सा हो उठा है। इसी प्रकार जब भी कथांश का मध्यभाग कुछ अधिक विवरणात्मक बातों से भरा जाता है तब कहानी की एकनिष्ठता म कुछ-न-कुछ आघात अवश्य लगता है।

—:०:—

चरित्र-चित्रण

साहित्य नाम से अभिहित होनेवाले जितने भी रचना-प्रकार अथवा स्वरूप-भेद हैं, उनका प्रधान उपजीव्य मानव है—अपने संपूर्ण आभोग-वैभव के साथ और अपने जीवन के विविध द्वन्द्व-संघर्षों, सुख-दुःख, उत्कर्ष-अपकर्ष के सहित। सभी प्रकार के काव्यों, नाटकों, उपन्यासों इत्यादि में मनुष्य के ही जीवन की कथा एवं आलोचना का प्रतिबिम्बीकरण रहता है। मनुष्य की संपूर्ण भावनाओं और उनकी विविध भंगिमाओं का विलास साहित्य में ही पूर्णतया चित्रित और ध्वनित होता है। साहित्य में उसके जीवन के संपूर्ण हास-विलास, सुख-दुःख की ही अवतारणा अनेक रूपों में पाई जाती है। इस प्रकार जहाँ मानव साहित्य का उपजीव्य है, वहीं साहित्य उसका मूलतः आभोग विषय भी है, क्योंकि साहित्य की संपूर्ण सुन्दरताओं का यथोचित आस्वादन मानव ही करता है। साहित्य में अपने ही को अभिव्यंजित और प्रतिम्बिम्बित पाकर जैसा वह अनुरंजित होता है और संतोष का अनुभव करता है उससे साहित्य और मानव का अन्योन्य भाव प्रकट होता है।

साहित्य में मानव

एक बात अवश्य है कि साहित्य के विभिन्न रचना-प्रकारों में मानवीय कुल-शील का चित्रण और अनुकथन भिन्न-भिन्न प्रकार से

होता है। ये रचनाएँ अपने रचना-विधान और योजना-प्रसार के अनुसार विषय को ग्रहण करती हैं। कहीं मानव-जीवन का उन्मुक्त और विवरणात्मक चित्रण इष्ट होता है, कहीं उसके जीवनवृत्त के केवल प्रमुख और महत्वपूर्ण स्थलों का ही प्रकाशन होता है, कहीं ऐसा भी हो सकता है कि उसके महत्व के केवल एक ही आलोक-विंदु पर सारी दृष्टि केन्द्रित कर ली जाय। इस प्रकार रचना-विधान के आग्रह को मानते हुए विविध रचना-प्रकारों में व्यापक मानव का विविध रूप में और विविध दृष्टिकोणों से अंकन होता है। उपन्यास में मानव-जीवन की लीला को जितना खुल-खेलने का अवसर प्राप्त होता है उतना रचना के अन्य प्रकारों में संभव नहीं। इस दृष्टि से मानवीय सृष्टि का जितना विस्तारमय रहस्य वहाँ उद्घाटित हो सकता है उतना अन्य किसी शास्त्र सम्मत रचनाभेद में नहीं। अन्य विषय अपने क्रिया-कल्प (Technique) संबंधी बन्धनों में ऐसा जकड़े रहते हैं कि मात्रा से अधिक हाथ-पैर नहीं फेंक सकते। मानव-जीवन और चरित्र के चित्रण के आधार पर भी कहानी नाटक के साथ जा पड़ती है क्योंकि नाटक में मानवीय इतिवृत्त के प्रसार में आए हुए जितने महत्वपूर्ण और प्रभावशाली स्थल हैं उन्हीं का गुंफन होता है और कहानी में ऐसे किसी एक अंश को पूर्णता प्रदान की जाती है। इस तरह कहानी और नाटक की उद्देश्य-मैत्री-सी है। जीवन के किसी विशिष्ट और आलोकमय स्थल के निर्वाचन की आकांक्षा दोनों में रहती है। तत्वतः अंतर यही रहता है कि एक अपने भीतर अनेक महत्वों को समेटता है और दूसरी किसी एक ही महत्व में सब कुछ पा लेती है। अपने लक्ष्य की इसी भेदकता को लेकर एक नाटक कहा जाता है और दूसरा कहानी।

रचना-भेद और मानव

कहानी में आकर मानव और उसका संसार बहुत महत्वपूर्ण हो उठते हैं, क्योंकि वहाँ उसकी रसवत्ता ऐसी एकत्र विधायक हो

जाती है कि लघुतम में महत्तम निखर उठता है; थोड़े से थोड़े में अधिक से अधिक का कथन वहीं मिलेगा और साथ ही यह प्रकट होता रहेगा कि लघु से लघु भी अपने में कितना पूर्ण और मनोरंजक हो सकता है।

कहानी में मानव

भले ही कहानी में विषय का एकत्व अथवा एकदेशीयता रहे पर जब उसका विषय मनुष्य अथवा उसका चरित्र होता है तो फिर उनका निरूपण भी ऐसा सुन्दर होता है, जैसा अन्य किसी बड़ी साहित्यिक रचना में हो सकता है। इस अर्थ में कहानी का मानव किसी अन्य रचना के मानव से कम दर्शनीय अथवा प्रभावोत्पादक नहीं होता।

कहानी में सबसे पहले विचार की बात यही उत्पन्न होती है कि उसका प्रेरक भाव क्या है। अवश्य ही मनुष्य अथवा उसके जीवन को छोड़कर प्रेरणा और मिल ही कहाँ से सकती है। ऐसी स्थिति में सबसे अधिक कहानी में अध्ययन का विषय मनुष्य और उसका चरित्र ही है। इसलिए अधिकांश कहानियों में मनुष्य और उससे संबद्ध विषयों का ही उद्घाटन प्राप्त होता है। इस विषय में कहानीकार आरंभ में विचार कर लेता है कि कहानी का मूल-भाव मनुष्य रहेगा अथवा मनुष्य द्वारा संपादित कोई विशिष्ट कर्म अथवा मनुष्य से संबद्ध कोई विशेष घटना। इसको यदि दूसरे रूप में कहें तो कहा जा सकता है कि कहानीकार को रचना की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई, मनुष्य से अथवा उससे संबद्ध किसी विशिष्ट घटना से अथवा किसी वातावरण विशेष से। यदि प्रेरणा का स्रोत कोई विशिष्ट घटना अथवा वातावरण होगा तब अवश्य ही मानव-चरित्र गौण रूप का हो उठेगा, फिर भी उस घटना अथवा वातावरण को मुखर करने के लिए अथवा प्राणमय बनाने के लिए उसके भीतर मानव की प्रतिष्ठा तो करनी ही पड़ेगी।[१] इस तरह घूम फिर कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी-किसी रूप में

१—प्रेमचन्द—'कुछ विचार', पृ० ५६

मानव-चरित्र और जीवन ही, कहानी का प्रधान प्रतिपाद्य रहता है—यह दूसरी बात है कि कहीं उसका सीधा संबंध विषय से रहता है और कहीं प्रकारान्तर रूप में।

मनुष्य और उसके जीवन को अपना लक्ष्य बनानेवाला कहानीकार तभी कुशल चित्रकार हो सकेगा और अपनी रचना में संवेदनशीलता की प्राणमयी मूर्च्छना उत्पन्न कर सकेगा, जब वह अपने चतुर्दिक् फैले हुए व्यापक मानव-जगत को अच्छी तरह देख और समझ चुका रहेगा, जब उसे मानव-जीवन की अधिकाधिक गतिविधियों का अनुभूतिमूलक ज्ञान होगा और मानव-चरित्र की अधिकाधिक भंगिमाओं का, साथ ही उनके समस्त उतार-चढ़ाव का पूरा परिचय हुआ रहेगा। मनुष्य स्वयं में एक रहस्यमय प्राणी है, उसके किसी कार्य और भावनाओं में कितने रूप की शक्तियाँ और भावनाएँ काम कर रही हैं इसका पूरा बोध और ज्ञान होना चाहिए। इस विषय में शास्त्र और अनुभव का ज्ञान रखनेवाले विचारकों ने संकेत दिया है कि भावी कहानीकार अपने चतुर्दिक् मिलनेवाले इष्ट, मित्र और परिचितों के स्वरूप, वेश-विन्यास, उनके सांस्कृतिक गठन और उनके रहन-सहन, चाल-ढाल, बोल-चाल सबकी बड़ी बारीकी से देखभाल करता रहे तभी उसे विविध परिस्थितियों में पड़े हुए मानव को पूर्णतया समझने के लिए सच्ची पकड़ मिल सकेगी। जितने उत्तम कहानीकार, किसी भी भाषा और साहित्य में मिलेंगे, उनमें मानव-जीवन के अध्ययन की पूरी सामग्री मिल सकती है।

चरित्र का निरीक्षण

इस स्थान पर एक तात्विक बात का विचार आवश्यक है। एक प्रकार से इसी स्थल पर आकर साहित्य निर्माताओं में सिद्धांतगत भेद हो जाता है। कुछ यथातथ्य चित्रण को अपनी कृति का दृष्टिकोण मानते हैं और कुछ लोग विषय को अपने प्रतिपाद्य के अनुरूप बनाने के अभिलाषी दिखाई पड़ते हैं। एक फोटोग्राफ

जीवन और यथार्थ

पैदा करता है दूसरा चित्र तैयार करता है, परंतु इस प्रकार का भेदभाव व्यवहारतः बहुत स्थूल होता है। मूल बात तो यही है कि यथातथ्य-चित्रण न तो विषय को रस-दशा तक पहुँचा सकेगा और न अनुरंजन कर सकेगा। जैसा वस्तुतः जीवन में घटित होता है यदि उसका तद्वत् कथन हम भाषा के माध्यम से कर भी दें तो उसमें सार्वदेशिक और सार्वकालिक संवेदन की सामग्री नहीं मिल सकेगी। सारांश यह है कि कलाकृति के समस्त आग्रहों के अनुरूप मनुष्य के संपूर्ण रूप-व्यापारों और अन्य बातों की काट-छाँट और संवर्धन-संकोचन करना आवश्यक होता है।

अंग्रेजी के प्रतिष्ठित कहानीकार जेम्स ओपेनहेम से किसी मिलने वाले व्यक्ति ने पूछा कि क्या वे अपनी कहानियों के पात्रों को शुद्ध उसी रूप में चित्रित करते हैं जिस रूप में वे जीवन में दिखाई पड़ते हैं? इस पर उन्होंने स्वीकार किया कि बात इससे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः कोई भी साहित्यकार जैसा अपनी आंखों से देखता है पूर्णतः वैसा ही साहित्य में ग्रहण नहीं करता, अपनी कल्पना और प्रतिभा का योग लेकर अपने विषय के अनुरूप किसी न किसी रूप में उसका संस्कार अवश्य करता है।[१]

प्रेमचंद जी ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि "कला दीखती तो यथार्थ है पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका मापदंड भी जीवन के मापदंड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अंत उस समय हो जाता है जब यह वांछनीय नहीं

---

1. "When you build a story around a character do you use the character about as you find him in real life ?" "Practically never, things and people as they are in real life won't do for short stories. They are only starting points, spring board."
Clenn Clark, A. M., A Manual of Short Story Art, 1926, *pp*. 118.

होता। जीवन किसी का दायी नहीं है, उसके सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई संबंध नहीं ज्ञात होता, कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन, कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण संपूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्यायबुद्धि का, अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दंड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जबतक कि मानव न्यायबुद्धि उसकी मौत न मांगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हरएक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रांति है, पर, वह भ्रांति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।"[१]

चरित्र का केन्द्रविन्दु

अब यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रत्येक सफल और कला-पूर्ण पात्र या चरित्र में कोई-न-कोई आकर्षण एवं प्रकाश का एक विंदु अवश्य रहता है—उसी प्रकार जैसे किसी भी उत्तम कथानक में कोई न कोई एक मुख्य प्रभाव का स्थल होता है। जैसे कहानी के उक्त मर्मपूर्ण स्थल पर पहुँच कर पाठक के भीतर आह्लाद का स्फुरण हो जाता है, उसी प्रकार चरित्र के संपूर्ण प्रसार में जब वह मर्मस्थल सामने आता है तो उस पात्र की चारित्रिक भंगिमा उत्कर्षमयी और आकर्षक हो उठती है। ऐसे चरित्रगत आकर्षक स्थलों पर पहुँचने के पहले सभी कुशल लेखक उसके पूर्व की दशाओं का बड़ा ही बुद्धि-संगत चित्रण करते हैं। प्रायः देखा जाता है कि चरित्रगत सौंदर्य-दर्शन वहीं स्फुट होता है जहाँ कहानी की चरमसीमा होती है। प्रेमचंद की कहानी 'सुजान भगत' चरित्र-प्रधान कहानी है। भगत के चरित्र में निखार वहाँ आता है अथवा मर्मकेन्द्र उस स्थल पर दिखाई पड़ता है, जहाँ उसके

१. **प्रेमचन्द—"कुछ विचार", पृ० ४८**

अंत:करण में लाग की भावना जगती है। लेकिन लाग की भावना जिस मानव में जगती है, उस मानव का आरंभिक चरित्र-गठन कैसा है, इसको कुशल लेखक ने कहानी के प्रथम खंड में पहले दिखा दिया है। इस प्रकार जिस कहानी में चरित्र के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश को दृष्टिगत लाने के पूर्व जितना ही प्राकृतिक विकास-क्रम उपस्थित किया जायगा, उतना ही वह महत्व का केन्द्र उद्दीप्त होगा। जिन कहानियों में चरित्र का सौंदर्य द्वन्द्व से संवलित रहता है उनमें चरित्र वहाँ अधिक उत्कर्षमय दिखाई पड़ता है, जहाँ प्रथम और द्वितीय भाव आपस में टकराते हैं और अपने-अपने अनुरूप क्रियाओं की ओर पात्र को प्रेरित करते हैं। 'प्रसाद' की कहानी 'आकाश-दीप' अथवा 'पुरस्कार' में चरित्र-विकास का यह वैभव देखा जा सकता है।

कहानी में चरित्रांकन

कहानी में रचना-विस्तार की सर्वांगीण परिमिति दिखाई पड़ती है। इस तथ्य का प्रभाव चरित्र और उसके विकासक्रम पर भी पड़ता है। कहा जा चुका है कि कहानी के तारतम्य में अन्य साहित्यिक रचनाओं का चित्र-विधान अधिक स्वच्छन्द और उन्मुक्त रहता है। कहानी अपनी मौलिक परिमिति को लिए हुए विभिन्न तत्वों को नाना प्रकार के प्रतिबंधों में डाल देती है। सबसे अधिक प्रतिबंध पात्रों के चरित्र-विकास पर दिखाई पड़ता है। इसीलिए यह आवश्यक होता है कि चरित्र की किसी मौलिक भंगिमा और वृत्ति को कहानी लेखक पहले से ही निर्दिष्ट कर ले। चरित्र के उस प्रेरक अथवा बीजभाव को बिना किसी प्रकार के विवरणात्मक और परिचयात्मक विस्तार के सीधे उपस्थित करना उचित रहता है। वर्णन-प्रसार के लिए भी कहानी में कोई विशेष अवसर नहीं रहता। इसलिए कहानी के पात्रों के रूपरंग, वेषभूषा, कुलशील, रुचि-अरुचि, इत्यादि का कोई वर्णन विस्तार से नहीं उपस्थित किया जा सकता। नितान्त आवश्यकता होने पर

इन चीजों को परिस्थिति और अवकाश का विचार करके कुशल लेखक अत्यंत संक्षिप्त पर सारगर्भित पदावली में कुछ कह देता है। विचारकों का तो यहाँ तक कहना है कि ऐसे स्थलों का विस्तार वे ही लेखक करते हैं जिनमें विषय की कमी रहती है।

चरित्रांकन-विधि

चरित्र के विकास-क्रम में मुख्यतः ध्यान देने की बात यह होती है कि चरित्र की विशेषताओं को क्रमशः घनीभूत और प्रभावमय बनाया गया है कि नहीं। चरित्र के विषय में कहानीकार का जो कथन हो उसे सब एक ही स्थल और समय में नहीं कह देना चाहिए। चरित्र-विकास की सारी दौड़ कहानी के कथानक में आद्यंत फैली रहनी चाहिए, अन्यथा कहानी का सौंदर्यवाहक संतुलन बिगड़ जायगा। पात्र की मूलवृत्ति और उससे संबद्ध विविध आनुषंगिक उतार-चढ़ाव की बातें अत्यंत क्षिप्र पर क्रमागत रूप में उपस्थित की जानी चाहिएँ। 'प्रसाद' की 'गुंडा' शीर्षक कहानी में व्यक्ति-वैचित्र्य की आनुषंगिक अनेक घटनाओं की पूरी सजावट पहले कर दी गई है और तब उसके भावना-प्रेरित उत्सर्ग का भव्यरूप सामने लाया गया है। इस उत्सर्ग के मूल में बैठी जो उत्साहमयी दृढ़ता है उसका दिव्यरूप उस समय दिखाई पड़ता है जिस समय ननकू सिंह को सूचना मिलती है कि रानी को अंगरेज पकड़ कर कलकत्ते ले जायँगे और ननकू सिंह आंतरिक प्रेरणा से विह्वल होकर दुलारी को झटक देता है और बाढ़ की गंगा में डोंगी छोड़ देता है।

चरित्र और द्वन्द्व

चरित्र-विकास का पूर्ण विस्तार-क्रम और सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यौरा उपस्थित करना तो उपन्यास का काम है। कहानी मुख्यतः चरित्र के किसी चमत्कार-विन्दु को किसी संघर्षपूर्ण परिस्थिति में रख कर सामने लाती है। इसीलिए चरित्र-प्रधान कहानियों में किसी-न-किसी प्रकार का द्वन्द्व दिखाना अनिवार्य हो उठता है। इन द्वन्द्वों का विवेचन पहले किया जा चुका है। इनमें से किसी प्रकार के

द्वन्द्व में पड़ा मानव बहुत ही आकर्षक होता है। अपने क्रम में चलकर 'आकाशदीप' की चंपा भारी द्वन्द्व में पड़ गई है। दूसरी ओर देखा जा सकता है कि अपने स्थूल और भौतिक इतिवृत्तक्रम में चलकर 'सुजान भगत' भी द्वन्द्व में पड़ गया है। द्वन्द्व में पड़ी चंपा कटार निकालकर भी बुधगुप्त को मार न सकी, फिर एक निश्चय पर पहुंचकर उसे समुद्र के गर्भ में तिरोहित कर देती है। कहानी में उसका यही निश्चय व्यक्त है। दूसरी ओर अपने ही राज्य में अपना अपमान देखकर 'सुजान भगत' में जो द्वन्द्व उठता है वह उसे विवश कर देता है कि वह अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त कर ले। सुजान का यही निश्चय कहानी में चमत्कार का विषय बन जाता है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि संघर्ष में पड़कर पात्र का चरित्र उस समय तक नहीं निखरता जब तक कि वह किसी विचारात्मक या क्रियात्मक निश्चय पर नहीं पहुँचता। जिन कहानियों में संघर्ष में पड़े किसी मनुष्य का चित्रमात्र होता है और संघर्ष की छाया में पड़ा हुआ वह मनुष्य केवल अपनी समस्या के महासागर में हाथ पैर मारता देखा जाता है उसमें चरित्र का ज्ञान अपूर्ण रह जाता है, केवल यह संकेत मिल जाता है कि लड़ाई चल रही है। ऐसी स्थिति में चरित्र-चित्रण अपूर्ण ही माना जायगा। ऐसी कहानियों में चरित्र संबंधी प्रभावान्विति सिद्ध नहीं मानी जायगी जैसे, राधाकृष्ण की लिखी कहानी 'अवलंब' में है।

चरित्र में प्रेरक भाव

चरित्र का संबंध जहां तक क्रिया से है, उसमें विचार की एक बात प्रत्यक्ष है कि किसी क्रिया में संलग्न किसी पात्र को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि उसके चरित्र की कौन सी विशेषता इससे लक्षित होती है। चरित्र की यथार्थ भंगिमा का यदि स्वरूप समझना होगा तो यह देखना आवश्यक होगा कि जिस क्रिया में वह पात्र संलग्न है उस क्रिया के मूल में चरित्र की कौन सी वृत्ति काम कर रही है। तभी यह निर्णय हो सकेगा कि पात्र के चरित्र

की किस विशेषता का परिणाम वह क्रिया है। इस तरह क्रिया का प्रेरक जो भाव होगा वही व्यक्ति-वैचित्र्य का रूप निश्चित करेगा। किसी को तलवार खींचे हुए देखकर स्थूलतः केवल इतना ही जाना जा सकता है कि वह क्रोध के आवेश में अथवा आक्रमणशील स्थिति में है। उसके तलवार खींचने में चरित्र की बात क्या है इसका ठीक पता तो उस समय चलेगा जब यह निश्चय हो जाय कि वह क्रोध प्रतिहिंसामूलक है अथवा करुणा से प्रेरित। प्रेम की प्रतारणा में पड़कर भी तलवार खींचने की नौबत आ सकती है और अपने मित्र के सम्मान और शरीर की रक्षा में भी इसकी आवश्यकता पड़ सकती है। इसलिए कहा जा सकता है कि कहानियों में केवल क्रिया को प्रकट करनेवाले प्रभावों को ही समझने की चेष्टा नहीं होनी चाहिए, बल्कि उसके मूल प्रेरक भाव की छानबीन करनी चाहिए। वहाँ तक पहुँच कर ही कहा जा सकता है कि पात्र में प्रतिहिंसा का भाव अधिक है, अथवा करुणा अथवा कर्त्तव्य का।

सामान्यतः उन पात्रों का चित्रण सरल होता है जिनका चरित्र समगति से विकसित होता है अर्थात् जिनकी चारित्रिक गतिविधि एक रस, एक रूप आदि से अंत तक चली चलती है, किसी प्रकार की उच्चावचता उसमें नहीं दिखाई पड़ती। ऐसे पात्र को केवल विविध स्थितियों और घटनाओं में पड़ा हुआ दिखा दिया जाता है। इन्हें हम एकरस सरल गतिवाले चरित्र कह सकते हैं। विवेचना में ये पात्र सम और सरल होते हुए भी चित्रण में कठिन होते हैं। कठिन इस अर्थ में कि चरित्र संबंधी प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने के लिए, लेखक को किसी प्रकार का विशिष्ट कौशल दिखाना पड़ता है। ऐसे चरित्रांकन में आकर्षण और मनोरंजन का अधिक स्थल न होने के कारण रोचकता का निर्वाह कठिन रहता है। इसलिए ऐसी कहानियों में पात्र के चतुर्दिक् फैली हुई विभिन्न परिस्थितियों को ही सजीवता प्रदान करने की चेष्टा की जाती है—

समगति-चरित्र

जैसे, प्रेमचंद की कहानी 'ईदगाह' में। उस बालक के चरित्र में उतार-चढ़ाव दिखाने का कोई अवसर नहीं मिला। इसलिए एक विशेष प्रकार की परिस्थिति में खड़ा करके हामिद की एक कोमल-वृत्ति का क्रियाशील रूप दिखा दिया गया है। इस प्रकार के चरित्रांकन में कौशल और पकड़ की बात दुरूह होने पर भी कहानी-रचना के क्षेत्र में पदार्पण करनेवाले नए लेखक के लिए कार्य करना सरल होता है।

उच्चावच चरित्र

दूसरे प्रकार के पात्र अथवा चरित्र वे होते हैं जो कि निरंतर परिवर्तनशील होते हैं, इस अर्थ में कि उच्चावच प्रेरणाओं के अनुरूप असम गति से कभी ऊपर और कभी नीचे होते रहते हैं। उनके गति-विस्तार में समय-समय पर मोड़ के स्थल आते रहते हैं। जिसको हमने पहले सामान्य रूप में देखा फिर परिस्थितियों के प्रवाह में उसी को एक ऐसे परिवर्तित और नूतन रूप में देखते हैं कि आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। प्रेमचंद का 'सुजान भगत' पहले सीधा-सादा, परिश्रमी और धर्मभीरु गृहस्थ के रूप में हमारे सामने आता है, पर आगे चल कर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में पड़कर उसके चरित्र के भीतर से एक तीव्र द्युति प्रस्फुटित होती है। उसके व्यक्तित्व-विधायक त्याग के भाव को देखकर सभी चकित रह जाते हैं। ऐसे चरित्रांकन को सम न कह कर असम ही कहना होगा, पर इस असमता में भी एक सरलता से समझ लेने की बात तो है ही कि एक ही मोड़ के बाद विषय स्पष्ट हो जाता है। कुछ व्यक्ति प्रकृत्या चरित्र और स्वभाव से कुछ अन्धकारमय और जटिल होते हैं, जिन्हें उनके समीपवर्ती मित्र भी नहीं पहचान पाते। अन्य लोगों को भी वे बहुत देर में अथवा नहीं ही समझ में आते। ऐसे लोग बाहर से कुछ और भीतर से कुछ अन्य ही होते हैं। ऊपर से बड़े शांत और स्थिर मालूम पड़ते हैं, भीतर चाहे आंधी और तूफान ही क्यों न चलता हो। इनकी यथार्थ आन्तरिक प्रेरणाओं को समझना बड़ा कठिन होता है। प्रायः

ऐसे पात्रों में ही अच्छे कहानीकार आन्तरिक संघर्ष और द्वन्द्व का पूर्ण योग स्थापित करते हैं। यह द्वन्द्व उनके व्यक्तिवैचित्र्य में उलझ कर ऐसा महत्त्वपूर्ण हो उठता है कि उसके चित्रण में बड़ी प्रभावोत्पादकता दिखाई पड़ती है। प्रेमचंद की कहानी 'सोहाग के शव' और 'एक्ट्रेस' अथवा प्रसाद के 'पुरस्कार' और 'आकाशदीप' शीर्षक कहानियों में इस प्रकार के जटिल चरित्रांकन का रूप देखा जा सकता है। ऐसी कहानियों में चरित्र की विविध भंगिमाएँ मिली-जली रहती हैं, इसीलिए लिखनेवाले को भी सावधानी बरतनी पड़ती है और पढ़नेवालों को भी अधिक तत्पर रहना पड़ता है।

इस तरह की विवेचना एक दूसरी पद्धति से भी हो सकती है। चरित्रांकन प्रायः दो रूपों में किया जाता है। कहीं कोई व्यक्ति किसी वर्ग विशेष अथवा जातिविशेष का प्रतिनिधि बनाकर खड़ा किया जाता है और कहीं कोई व्यक्ति इस रूप में लाया जाता है कि हमारा सारा ध्यान उसके व्यक्तित्व-विधायक गुणधर्मों की ओर आकृष्ट हो जाता है और हम उसके चतुर्दिक् भरे हुए समाज और स्थितियों की ओर ताकते भी नहीं। पहले प्रकार की पद्धति सीधी और सरल होती है। इस क्षेत्र के नवीन रचनाकार प्रायः इसी पद्धति को अपनाकर अधिक सफल होते हैं। पर दूसरे प्रकार के व्यक्तिवैचित्र्य से भरे पात्रों को सजीवता प्रदान करने में केवल सिद्धहस्त लेखक ही सफल हो सकते हैं, क्योंकि उनके अनुरूप स्थितियों और घटनाओं को संयोजित करने में चेतन अनुभव की बड़ी आवश्यकता होती है। इसीलिए निर्माण-साधना की दृष्टि से रचनाकार को पहले वर्गगत चरित्र-चित्रण का अभ्यास करना चाहिए और सतत प्रयोग के उपरांत ही व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण चरित्रांकन की चेष्टा करनी चाहिए।

पद्धति के विचार से कहानीकार अपने पात्रों के कुलशील का उद्घाटन अथवा चरित्र-चित्रण दो प्रकारों से कर सकता है—प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न रूप से। प्रत्यक्ष रूप में तो कहानीकार पात्र के रूपरंग, वेषभूषा, उसके शरीर और स्वभाव की बनावट सीधे उपस्थित करता है।

इस प्रकार के वर्णन में ऐसा मालूम पड़ता है कि लेखक की सीधी जानकारी इन विषयों से है, और उसका परिचय वह अपनी ओर से देता है। इसमें पात्र को कुछ कहने अथवा करने का अवसर नहीं रहता क्योंकि कृतिकार स्वयं सब कुछ जानता है अथवा वह उसकी सजीव कल्पना कर लेता है। इसमें पात्र के प्रत्यक्ष साक्षी की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रेमचन्द की कहानी 'सुजान भगत' में अथवा 'प्रसाद' की कहानी 'गुंडा' में इसका अच्छा रूप दिखाई पड़ता है। आरंभ में ही नन्हकू सिंह की सजधज का जैसा सीधा कथन 'प्रसाद' ने किया है अथवा 'सुजान भगत' का जैसा परिचय आरंभ में प्रेमचंद ने दिया है वह चरित्रांकन की प्रत्यक्ष प्रणाली है।

चरित्रकथन की प्रत्यक्ष प्रणाली

पात्र के चरित्र का उद्घाटन प्रकारांतर से भी हो सकता है, लेखक स्वयं न कुछ कहे और न उसका व्यक्तित्व सम्मुख आए—ऐसा भी हो सकता है। कहानी का कोई दूसरा पात्र ही पहले पात्र की आलोचना करे अथवा उसकी विशेषताओं का परिचय दे। सामान्यतः यह पद्धति विस्तार-परिमिति के कारण अधिक लोग अपनाते नहीं क्योंकि एक विशेष प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न करनी पड़ती है जिसमें यह अवसर आ सके कि एक पात्र दूसरे की व्यक्तिगत वृत्तियों और कार्यावली का आलोचनात्मक परिचय दे।

कहानी की सर्वाधिक प्रभावशाली और व्यवहारोपयोगी चरित्रांकन-पद्धति वह होती है जिसमें नाटकीय[1] विधि का उपयोग होता है। इस विधि के अनुसार संवादों के अंतराल में पात्र स्वयं अपने मुख से अपने चरित्र के प्रकाशक विविध गुण-धर्मों, विचारों, अनुभूतियों, आशाओं-निराशाओं, आकांक्षाओं-आदर्शों अथवा अपनी रुचि-अरुचि, मंतव्यों और भावनाओं का विवरण उपस्थित करता है अथवा परिचय देता

चरित्र-कथन की नाटकीय प्रणाली

1 (a) *Albright, E. M.—The Short Story, pp.* 118.
(b) *Maconochie, D.—The Craft of the Short Story, pp.* 30.

है। यहाँ वह अपने विषय में स्वयं बोलता है और अपने मंतव्यों का इस प्रकार कथन करता है कि उसके अन्त:करण का स्वयमेव और भलीभाँति उद्घाटन हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि पात्र अपने क्रिया-कलापों के माध्यम से अपनी भावना और अपने विचार को झलका दे। जहां इस ढंग से अपने विचार-द्योतन अथवा क्रियायोग के द्वारा पात्र अपने चरित्र को स्वयं उपस्थित कर देता है वहां लेखक के माध्यम की आवश्यकता नहीं रह जाती। चरित्रांकन की यही सीधी पद्धति प्रधानत: नाटकों में व्यवहृत होती है पर उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में भी इसका सफल प्रयोग सभी कुशल कृतिकार करते हैं। जिन कहानियों में इस ढंग का चरित्रांकन होता है, उनमें नाटकीय तत्व अधिक उभड़ा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की विशेषताओं का प्रयोग प्रसाद की कहानी 'आकाशदीप' में बड़ी सफलता से हुआ है। यह कहानी इतनी संवाद और क्रिया-बहुल मिलती है कि यदि बीच-बीच में रंगमंच-संबंधी निर्देश लगा दिए जायँ तो एक सुन्दर एकांकी तैयार हो जाय। उसमें जो परिच्छेदों का आरंभ है वह भी किसी न किसी प्रकार की प्राकृतिक सुषमा से संयुक्त है। परिच्छेदारंभ के ये प्रकृति-चित्र रंगमंचीय पटों का काम देते हैं।

चरित्रांकन की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

चरित्र के संगठन और विकास के मूल में मनोवैज्ञानिक तथ्यों की ढूँढ़-खोज आवश्यक होती है। मनुष्य जिस प्रकार के सांस्कृतिक वातावरण और सामाजिक अथवा कौटुंबिक परिस्थितियों के बीच में रहता है उनका कहीं प्रत्यक्ष और कहीं प्रच्छन्न प्रभाव उसके आचरण, व्यवहार एवं रुचि-अरुचि इत्यादि पर निरंतर पड़ता चलता है। इसका कभी उसे ज्ञान होता है और कभी नहीं भी होता है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक आधारों से संवलित व्यक्ति की जो भी चरित्रगत विशेषताएँ निखरती हैं उनका यथार्थ स्वरूप और पूर्ण प्रसार उस

समय देखने को मिलता है जब उसके सामने किसी प्रकार की संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। जब तक जीवन की गति सम रहती है और उसे किसी दिशा में विशेष क्रियाशील होने की आवश्यकता नहीं होती तबतक उसकी पूर्ण आंतरिक शक्तियों का वैभव देखने में नहीं आता। किसी प्रकार के विरोध और संघर्ष के संमुख उपस्थित होते ही व्यक्ति जिस तत्परता से अपने सारे बल का उपयोग करता है उसी में उसके चारित्रिक विकास का सच्चा बोध होता है। यही कारण है कि साहित्य नाम से अभिहित होनेवाले विभिन्न रचना-प्रकारों में किसी न किसी रूप में संघर्ष को ही प्रधानता दी जाती है। अवरोध और संघर्ष को संमुख पाकर पात्र में जो पहली प्रतिक्रिया लक्षित होती है वह है उसका अंतर्मुखी चिंतन। इस काल में वह परिस्थिति की गंभीरता अथवा जटिलता का बोध करता है और उसकी तुलना अपनी व्यक्तिगत वस्तु-स्थिति से करता है। अपनी इन्हीं आन्तरिक क्रियायों के द्वारा उस वाह्य संघर्ष का सामना करने के लिए अपने को प्रस्तुत करता है। उस समय कुछ देर के लिए उसके अंतःकरण में उचित-अनुचित अथवा कर्तव्याकर्तव्य का विचार चलता है। इसी बात को यदि प्रकारान्तर से कहा जाय तो कहा जा सकता है कि पात्र आसन्न-कर्तव्य को पहले स्थिर कर लेता है, उसके बाद अपने विवेक के अनुसार उसके औचित्य की मीमांसा करता है। आगे चलकर जिस समय आचरण की तीसरी भूमिका आती है, उस समय पूर्व के आंतरिक चिंतन के अनुरूप किसी क्रियात्मक निर्णय पर पात्र पहुँचता दिखाई पड़ता है। मूलरोध और संघर्ष के विषय में वह कुछ ठोस कदम उठाकर एक दृढ़ निश्चय कर पहुँचता है और उस निश्चय का स्पष्ट अभिव्यंजन करता है—शब्द रूप में अथवा क्रियागत। ये तीनों भूमिकाएँ संभव है एक ही कहानी में एक से अधिक बार आती दिखाई पड़ें। पात्र के सामने एक ही कहानी में जितनी बार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी उतनी ही बार इन तीनों भूमि-

कार्यों की आवृत्ति होगी। किसी भी सुव्यवस्थित लिखी हुई कहानी में जब कभी कोई विरोधमूलक परिस्थिति नायक अथवा नायिका के सामने आती दिखाई देगी तो उक्त तीनों भूमिकाएँ दिखाई देनी चाहिएँ। लेकिन इस प्रकार के विश्लेषण निर्णयात्मक नहीं माने जाने चाहिएँ। ऐसा भी हो सकता है कि केवल मुख्य निर्णय से संबन्ध रखनेवाली तो पूर्व की दोनों भूमिकाएँ दिखाई जायँ और इसके पूर्व के जितने आनुषंगिक निर्णय हों उनमें पहली और दूसरी भूमिका तो दिखा दी जाय और चिंतनवाली बीच की भूमिका अनुमान के आधार पर छोड़ दी जाय।

प्रेमचंद की 'ऐक्ट्रेस' अपने मिथ्याचरण से संघर्ष करती हुई जिस समय जागती है तो उसमें चिंतन की भावना उत्पन्न होती है। उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। वह अपने कपट व्यवहार के कारण आत्मग्लानि से भर उठती है। उसके बाद क्रियागत निर्णय के रूप में कुमार के सामने से और साथ ही संसार के सामने से वह हट जाती है। इसी छोटी सी स्थिति में तीनों बातें दिखा दी गई हैं। इतना व्यापार कहानी के एक परिच्छेद में विभक्त हो सकता है। इसी तरह का क्रम प्रसाद की 'पुरस्कार' कहानी में भी देखा जा सकता है। जब मधूलिका को अनुमान हो गया कि अरुणकुमार कोशल-राज्य को हस्तगत करके उसे अपनी राजरानी बनाएगा तो वह आत्मसंतुष्ट और प्रसन्न दिखाई पड़ती है। उसने अपने लिए यही कर्त्तव्य ठीक समझा कि आत्मसमर्पण द्वारा वह अरुणकुमार को स्वीकार कर ले। उसके बाद उसके मन में आत्मचिंतन की भावना जगी और यह विचार करके कि कोशलनरेश ने क्या कहा था—'सिंह मित्र की कन्या ! सिंह मित्र कोशल का वीर रक्षक उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है ? नहीं। नहीं।' इस विचार के उपरांत जो क्रियाशील निर्णय सामने आता है वह उसके चरित्र की सर्वप्रधान वृत्ति का उद्घाटन करता है और कहानी में द्वन्द्व का रूप निखार देता है।

कहानी में नायक के चरित्रांकन को मुख्य लक्ष्य बनाने के कारण और रचना के लघुप्रसारी होने के कारण अन्य पात्रों को अधिक आकर्षक नहीं होने दिया जाता। इस प्रकार

प्रधान पात्र के नियंत्रण की अधिक आवश्यकता तो सामान्यतः उपन्यासों में देखी जाती है पर उसका रूप कहानियों में भी मिलता है। एक प्रकार से देखा जाय तो कहानी में इसकी अधिक आवश्यकता मालूम पड़ती है क्योंकि यहाँ दौड़ थोड़ी रहती है और यदि उसी के भीतर आनुपातिक योग में नायक का चरित्र अधिक न उभड़ सका और उसकी तुलना में दूसरा कोई अन्य पात्र भी प्रमुख हो उठा तब तो कहानी ही मर जायगी। ऐसी स्थिति में एक बार इस बात के निश्चय होते ही कि कहानी में किस व्यक्ति का कृतित्व प्रभावान्विति का कारण होगा उसके अतिरिक्त अन्य दूसरे सब पात्र महत्व में थोड़ा कम कर दिए जायेंगे। इसके बिना काम चल ही नहीं सकता और कहानी का प्रतिपाद्य सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसा हो सकता है कि नायक अथवा नायिका के अतिरिक्त भी अन्य एक अथवा अन्य दो पात्र प्रमुख रूप धारण करते मालूम पड़ें, जैसे प्रसाद की 'चंपा'[1] के साथ बुधगुप्त का चरित्र भी बहुत उभड़ा हुआ मालूम पड़ता है। प्रेमचंद के 'पयाग'[2] के साथ 'रुक्मिन' का भी व्यक्तित्व व्यक्ति-वैचित्र्य से संयुक्त मालूम पड़ता है। पर नायक के अतिरिक्त जो पात्र भी प्रमुखता ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं, उनमें प्रमुखता का आभास मात्र रहता है, मूलतः ये प्रतिपाद्य के सहायक अथवा साधन मात्र रहते हैं।

इस स्थान पर चरित्र-चित्रण के कुछ सामान्य सिद्धान्तों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि कोई

१—आकाशदीप, २—अग्निसमाधि।

लेखक एक विशेष प्रकार के चरित्रों के निर्माण में पटु होता है और दूसरा किसी दूसरे प्रकार के। कोई जीवन के चतुर्दिक् प्राप्त होनेवाले सामान्य मनुष्यों की अवतारणा

लेखक का अपना क्षेत्र

में बड़ा रस लेता है, दूसरे इस प्रकार के भी लेखक हो सकते हैं जिनकी कल्पना सुदूर अतीत की ओर अधिक उन्मुक्त होती हो। कुछ लोग जीवन की सरल, सामान्य, यथार्थ स्थितियों के उद्‌घाटन की ओर अधिक बढ़ते हैं, इनके अतिरिक्त दूसरे लेखक प्रस्तुत से दूर हट कर अलौकिक और विषम परिस्थितियों के उद्‌घाटन में विशेष अभिरुचि दिखलाते हैं। उदाहरण के लिए प्रेमचंद और प्रसाद को लिया जा सकता है। एक हमारे जीवन के चिर सहचर के रूप में आता है। वह हमारे जीवन की यथार्थ कथा कहनेवाला और नित्य के सुख-दुःख, संघर्ष-विमर्ष को ही हमारे सामने रखता है और उसी के माध्यम से हमें कुछ मर्म की बातें सुझा जाता है; दूसरा अतीन्द्रिय भावलोक में प्रवेश कर अथवा सुदूर प्रांत की जीवन-धारा सामने उपस्थित कर हमें उसमें अवगाहन करने का निमन्त्रण देता है। एक 'सुजान-भगत' और 'पयाग' को अथवा 'बुलाकी' और 'रुक्मिन' को भारतीय ग्राम्य वातावरण में उपस्थित करने में विशेष पटु है, दूसरा कहीं हमें स्वर्ग के खंडहर में उतार देता है, कहीं हमारे सामने 'सालवती' और 'चंपा' की कल्पना को सजीव कर देता है। थोड़े में कहा जा सकता है कि किसी एक श्रेष्ठ लेखक की वृत्ति किसी एक विशेष प्रकार के ही विषय अथवा चरित्रांकन में सफलता प्राप्त करती है। इससे यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि वह अपने घेरे के बाहर जा ही नहीं सकता। अपनी सीमा के उसके अतिक्रमण में आशंका अथवा संदेह नहीं किया जा सकता, पर यह निश्चय है कि अपनी परिधि के भीतर वह अजेय होता है।

इस प्रकार के एकांगी चरित्र-चित्रण के अपने गुण भी हैं और अपने दोष भी। गुण तो यह है कि अपनी परिमिति के भीतर रहने

से उस विशिष्ट क्षेत्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बारीकियों अथवा विशिष्टताओं पर उसका बड़ा अधिकार रहता है—यथार्थता के विचार से और सत्यनिरूपण के विचार से भी। ऐसे लेखक के चित्रण में न तो अतिशयोक्ति का भय रहता है और न किसी प्रकार की छूट का। उसके पाठक भी विषय से नितांत परिचित होते हैं। अतएव अपने क्षेत्र की बारीकियों की छानबीन में पटु हो जाते हैं। इस प्रकार के एकपक्षीय लेखक अपनी कला में जितने कुशल हो सकते हैं उतने दूसरे प्रकार के नहीं, पर एक अर्थ में ऐसे लेखक हानि भी उठाते हैं। विषय और पात्र की एकदेशीयता के कारण उनकी रचना उबास पैदा करती है और एक विशेष प्रकार के पाठकों से पूजित होने के कारण ऐसे एकदेशीय लेखकों का शक्ति-सौंदर्य अधिक प्रसार नहीं पाता—एक सीमा में बंधा रह जाता है। जो यहाँ गुण की बातें मानी जायँगी दूसरे प्रकार के लेखक के लिए वही अवगुण सिद्ध हो सकती हैं और जो यहाँ बाधाएँ हैं वही दूसरी ओर कला के प्रवाह में स्वच्छन्दता प्रदान करती हैं। इस विषय में यदि निष्कर्ष निकाला जाय तो कहा जा सकता है कि प्रसाद 'सुजान भगत' और 'पयाग' की सृष्टि कर ही नहीं सकते थे, साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि प्रेमचंद 'सालवती' और 'शीरी' की कल्पना नहीं कर सकते थे।

दूसरी बात विचार करने की यह है कि चरित्रों की सृष्टि में यथार्थता का बहुत विचार रखना चाहिए। थोड़ी सी भूमि में जिसको तांडव नृत्य दिखाना पड़े, उसके लिए आवश्यक हो जायगा कि वह विशेष प्रकार का कौशल प्रयुक्त करे अन्यथा सौंदर्यसिद्धि संभव नहीं हो सकती। जहाँ कहानी के चरित्रों में पर्याप्त गतिशीलता होनी चाहिए, वहीं यह भी आवश्यक रहता है कि यथार्थ जीवन के वर्षों में प्रसरित इतिवृत्त को वह घंटों के इतिवृत्त में परिणत करता जाय। जो काम यथार्थ जीवन में कई

चरित्र की यथार्थता

वर्षों में संपादित हुआ होगा और छोटे-बड़े सभी प्रकार के उतार-चढ़ाव से संयुक्त रहा होगा उसका तद्वत् चित्रण तो बृहद्काय उपन्यास में भी संभव नहीं हो पाता, कहानी की कौन कहे। इसी तरह यहाँ चरित्र के वृद्धिक्रम के विस्तार में भी घनत्व उत्पन्न करने की विशेष आवश्यकता रहती है। किसी प्रकार की वृत्ति विशेष अथवा चारित्रिक भंगिमा जो किसी पात्र में वर्षों में गठित हुई होगी उसे कहानी में लाकर कुछ थोड़े ही समय में विकसित करना पड़ता है। यह एक विचार का ऐसा पक्ष है जहाँ बड़े से बड़े यथार्थवादी को भी अपने सैद्धान्तिक हिमालय से नीचे उतरना पड़ता है और यथार्थ और कलाकृति की दूरी को स्वीकार करना पड़ता है।

सामान्यत: जो कहानी-लेखक सर्जना की क्रिया में सिद्धहस्त नहीं होते वे चरित्रांकन में दो प्रकार की भूलें करते दिखाई पड़ेंगे—वे या तो चरित्रचित्रण के स्थान पर रूढ़ियों और सिद्धान्तों के पुतले गढ़ने लगते हैं या पात्र और घटनाओं की कड़ियों को ठीक नहीं मिला पाते। इस विषय में पहले कहा जा चुका है पर यहाँ पुन: संक्षेप में उसका संकेत करना आवश्यक है कि पात्र को सिद्धांतों की प्रतिमा बना देने से उसका चारित्रिक सौंदर्य मुखरित नहीं हो सकता। उसके लिए तो आवश्यक होगा कि वृत्ति विशेष के समुदय के अनुरूप पूर्व-योजना निश्चित हो और उसके प्रत्येक उत्कर्षापकर्ष को प्रकट करने के लिए उपर्युक्त सीढ़ियाँ प्रस्तुत हों। यदि ऐसा नहीं होगा तो सारा चरित्र-चित्रण निर्जीव पत्थर की मूर्ति बन जायगा। उसमें प्राण डालनेवाली सजीवता नहीं दिखाई पड़ेगी। इस प्रकार का दोष यदि दिखाई पड़े तो कृतिकार की अपरिपक्वता घोषित होगी। इसी तरह का कौशल उन कड़ियों के सजाने में भी देखा जायगा, जो चरित्र और घटनाओं को बाँधती हैं। घटना और परिस्थिति के साथ पात्र के चरित्र का अन्योन्य संबंध होने से उनके संबंध का स्पष्ट अंकन होना चाहिए, नहीं परिणाम यह होगा कि न तो कहानी में एकरसता उत्पन्न होगी और न प्रभाव ही उत्पन्न हो सकेगा।

चरित्रचित्रण के विचार से आज के युग की अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ और आकांक्षाएँ हैं। आज के बौद्धिक युग का पाठक विशेष प्रकार के चारित्र्य से भरे व्यक्ति का स्वरूप समझना चाहता है। अंतर्जगत् में भावों और विचारों के उदय, विकास और संघर्ष की कहानी सुनने में उसे विशेष आनंद का अनुभव होता है।

आधुनिक चरित्रांकन

जितना ही अधिक मनोवैज्ञानिक और द्वन्द्व-प्रधान वृत्तियों का चित्रण होगा उतना ही अधिक आधुनिक अध्येता का बौद्धिक अनुरंजन होगा। कुछ समय पूर्व तक स्थिति यह थी कि पाठक और अध्येता में इतना बौद्धिक परिष्कार नहीं उत्पन्न हुआ था इसलिए कुतूहल एवं जिज्ञासा को जगाने और परितृप्त करनेवाले, सामान्य, सरल, एकरस मानवों को एक निर्दिष्ट मार्ग से चलाकर एक सुस्थिर और अभीष्ट फल तक पहुँचाना ही आरंभिक कहानियों का लक्ष्य रहता था। धीरे-धीरे जब लिखने-पढ़नेवालों में विषय और चरित्र को सूक्ष्मता से उपस्थित करने और समझने की कला उत्पन्न होती गई तो व्यक्ति-वैचित्र्य को अधिकाधिक उभाड़कर सामने लाने की चेष्टा होने लगी। आज की कहानी-कला इतना विकास पा चुकी है कि अब रचनात्मक सौंदर्य की आकांक्षा स्वाभाविक हो गई है। आज की स्थिति यह है कि साधारण, भौतिक और स्थूल से तृप्ति नहीं होती; जबतक विशेष और सूक्ष्म चारित्रिक भंगिमाओं के पात्र हमारे सामने नहीं आते तबतक हमारी विवेचना की बुद्धि पूर्णतया जागरित नहीं होती। इसीलिए आज की कहानियों में चरित्र की व्यक्तिवादिनी वृत्तियों की विवृति में अधिक अभिरुचि बढ़ती जा रही है, जैसे लेखक पात्रों की व्यक्ति-विधायिनी मनोवृत्तियों के उद्घाटन में लगा दिखाई पड़ता है, उसी तरह पाठकों की अभिरुचि भी ऐसे विषय के ग्रहण की ओर निरंतर बढ़ती जा रही है। आज के समूचे कथा-साहित्य में और नाटकों में भी व्यक्तिवैचित्र्य को अधिकाधिक उभाड़कर संमुख लाने की चेष्टा की जा रही है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि पात्रों के केवल वेशभूषा, क्रियाकलाप और अन्यान्य स्थूल आचरण भी हमें पूरा-पूरा वह तृप्ति नहीं दे पाते जो हम चाहते हैं। हमारी आज इच्छा होती है कि हम कृतिकार की सृष्टि के भीतर आए हुए मानवों के मनोलोक में प्रवेश करें और उनके स्थूल तथा भौतिक संसार के मूल में निवास करनेवाले जो मूल भाव और विचार हैं उनका आलोड़न करें। आधुनिक कहानीकार भी इसी में अपनी सर्जना-शक्ति की सफलता मानता है और पढ़नेवाले भी इसी से अधिक परितृप्त होते हैं। अपने ही समान दूसरे मानव के बाह्य के साथ-साथ अंतर की झांकी भी जब हमें मिलती है तब एक विशेष प्रकार की तुष्टि का अनुभव होता है। यही आज के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण और मनोवैज्ञानिक तथ्य-निरूपण के मूल में मुख्य प्रेरणा है।

इसी विचार के समर्थक प्रेमचंद जी थे। एक से अधिक बार इस विषय पर उन्होंने विचार प्रकट किया है:—

[१]

"वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियां ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"

'कुछ विचार', पृ० ४७

"सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।"

वही—पृ० ५३

[३]

"........अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना विन्यास से नहीं लगाते, हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतंत्र कोई महत्व नहीं रहा। उनका महत्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है।"

वही—पृ० ५६।

इस प्रकार आज के मानव की युद्ध-भूमि बाहर नहीं भीतर है। भीतर के ही उथल-पुथल और द्वन्द्व-संघर्षों की बात जितनी अधिक कहानी में कही जायगी उतनी ही अधिक समझदार पाठक के विचार और हृदय को स्फूर्ति मिलेगी। इन्हीं आन्तरिक द्वन्द्वों के अनुरूप बाहरी घटनाएँ और क्रिया-व्यापार इस रूप में सामने आते हैं कि वे मनोवैज्ञानिक फल मालूम पड़ें।

मनोवैज्ञानिक चरित्रांकन के साथ-साथ कहानीकार से आज के युग की मांग होती है कि पात्र इस रूप में हमारे सामने आएँ कि हमारे ही समान सुख-दुःख, हानि-लाभ, और उत्कर्ष-अपकर्ष से भरे हों। यथार्थता, वास्तविकता, और यथातथ्य सबका यही तकाजा है कि अधिक से अधिक ईमानदारी से आज का कहानीकार अपनी कलाकृति में मानव की अवतारणा करे। मनुष्य-मनुष्य की तरह हों,—अपने सद्-असद् दोनों रूपों में। भले ही कोई सर्वगुण-संपन्न व्यक्ति हो पर यदि परिस्थिति और संस्कार विशेष के कारण उसमें चरित्र विषयक कोई दौर्बल्य भी दिखाई पड़ता हो तो लेखक को चाहिए कि उसे सचाई से वहाँ रहने दे। अच्छा हो यदि वह इसी उच्चावचता को उभाड़ कर सामने लाए, इसी को चरित्र विषयक अध्ययन का कारण बना दे तथा इसके व्यक्ति-वैचित्र्य को कला के रूप में परिणत कर दे। इस प्रकार का यथार्थ, आदर्शवाद के उतना विरुद्ध नहीं पड़ता जितना रोमांचवाद के। आदर्शवाद तो

फिर भी बहुत कुछ सभी युगों में अपनाया गया है और उसके प्रति लोगों का आदर किसी न किसी रूप में बना रहता है।

सामान्यत: सभी कहानी लेखक एक स्वर से युवक पात्रों को अपनी कहानियों का नायक बनाते हैं। इसमें बहुत कुछ स्थिति अनुकूल इसलिए हो जाती है कि उस अवस्था में आकर पात्रों का चारित्रिक गठन अधिक स्पष्ट होने लगता है। वे किस वर्ग के पात्र हो सकते हैं अथवा उनके चरित्र और स्वभाव के कौन से अंश उज्ज्वल और काले हैं इसका ठीक से पता लगने लगता है। इसी अवस्था में आकर पात्रों में विवेक-विचार तथा ज्ञान-अज्ञान का स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है और उनके क्रिया-कलापों की विविध प्रेरणाओं और भावनाओं की तीव्रता का रूप अधिक स्फुट होने लगता है। पर इस विषय में उक्त कथन को किसी तथ्य और निर्णय के रूप में नहीं स्वीकार करना चाहिए क्योंकि प्रसाद का 'मधुवा' और प्रेमचन्द का 'हामिद' भी हमारे आकर्षण और अध्ययन के कम सुन्दर विषय नहीं हैं पर वे युवक नहीं बालक हैं। इसी तरह कोई वृद्ध भी चरित्र के अनूठेपन को लेकर उपस्थित हो सकता है जैसे प्रेमचन्द का 'सुजान भगत'। इसलिए यह कहना कि कहानियों के पात्र प्राय: युवक होते हैं, आंशिक सत्य के रूप में है।

कहानी के पात्रों के कुलशील का निरूपण अथवा व्यक्ति-वैचित्र्य का उद्घाटन करनेवाली वृत्तियों का विश्लेषण तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक हम उनके नामों से परिचित नहीं हो जाते। शास्त्र के अंतर्गत आनेवाले जितने भी निषेध और विधेय होंगे उनका कोई न कोई सिद्धांत पक्ष अवश्य रहता है, अन्यथा वे समीक्षा-शास्त्र के विषय नहीं बन सकते। इसीलिए पात्रों के नाम निर्धारण में कोई बुद्धिसंगत स्थापना अवश्य होनी चाहिए। दादी-नानी वाली जो कहानियाँ होती हैं, जिनमें 'एक राजा रहता है, उसकी दो रानियाँ होती हैं; बड़ी रानी के एक लड़का होता है और छोटी

पात्रों के नाम

के दो।' इस प्रणाली की बातें हमारी जिज्ञासा और कुतूहल का समाधान कर सकती हैं--बिना किसी नामकरण के। जिस समय तक बुद्धि परिपक्व नहीं हुई रहती और कथा के प्रवाह में बहना ही परम आनंद का विषय रहता है, उस समय तक इस प्रकार बेनाम-गाँव के पात्र चल सकते हैं, लेकिन बुद्धि जब साहित्य को जीवन का प्रतिबिम्ब अथवा आलोचना मानने लगती है और उसी के अनुरूप परीक्षा के मानदंड बदल जाते हैं तो अधिक सजीव और प्रकृत पात्रों की कल्पना आवश्यक हो जाती है। इस समय हम यह जानने की आकांक्षा रखते हैं कि उस राजा का क्या नाम था ? वह कहाँ का राजा था ? उस भू-प्रदेश का इस विश्व में क्या भौगोलिक और सांस्कृतिक स्थान है ? इन बातों को जाने बिना सारी बातें हमें हवाई तर्ज की मालूम पड़ेंगी और हमारे भावलोक में कोई संवेदना नहीं उत्पन्न करेंगी। उनके अस्तित्व को न तो बुद्धि स्वीकार करेगी और न हृदय ही मानेगा। ऐसी स्थिति में कहानी की सारी उपादेयता प्रश्नवाची चिह्न बन कर रह जायगी।

पात्रों के नाम अवश्य होने चाहिएँ। इस प्रकार के आग्रह में दो मुख्य आवश्यकताओं का अनुभव होता है। पहली आवश्यकता यह है कि इतिवृत्त में सजीवता उत्पन्न हो सके और सारा वातावरण प्राणमय हो उठे तथा अध्येता के अंतःकरण में सुस्पष्ट और निश्चित छाप लग सके। दूसरी आवश्यकता देश-काल-संबंधी है, नामों से यह अंदाज लगने लगता है कि हम किस जाति, देश, काल के मानव-समूह के बीच में हैं। किसके इतिवृत्त का हम ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। चित्र कहाँ तक यथार्थ जगत का है इसका आभास नामों से होना चाहिए। थोड़े में कहा जा सकता है कि बिना पात्रों के नामकरण के हम ठोस भूमि पर खड़े हैं--ऐसा विश्वास नहीं होगा। वह नामकरण भी ऐसा न हो जैसा कि हितोपदेश इत्यादि ग्रंथों में दिखाई पड़ता है। जिनके नाम-निर्धारण की पद्धति कहीं तो प्रतीकपरक है और कहीं कल्पित और आरोपित सी मालूम

पड़ती है। पात्रों के नाम अधिक से अधिक यथार्थता की ध्वनि उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। इसलिए यह आवश्यक समझना चाहिए कि कहानी में एक प्रकार की सामूहिकता का भाव उत्पन्न करने के लिए सब पात्रों और स्थानों का नामकरण अवश्य हो। यदि कहानी के प्रसार में किसी नौकर अथवा सामान्य से सामान्य पात्र का कुछ भी व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप में खड़ा हो सका है तो उसके नामकरण की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। अवश्य ही ऐसे पात्रों का नाम न दिया जाय तो काम चल सकता है जो प्रसंगवश एक क्षण के लिए आते हैं और अपना कोई सामान्य-सा कर्तव्य-पालन करके चले जाते हैं। कहानी में न तो उनके कोई प्रभाव पड़ने की बात उठती है और न उसकी फिर कोई कथात्मक उपयोगिता रह जाती है। इसलिए यदि उनका नाम न भी लिया जाय तो कोई छूट नहीं मालूम पड़ेगी।

नायक का नामकरण

नायक के विषय में कुछ लेखकों का विचार है कि उसका नाम सामान्य न होकर विशेष हो[1]। इससे नायक का व्यक्तित्व कुछ विशिष्ट हो उठेगा। नायक के व्यक्तित्व की छाया कहानी के अन्य पात्रों पर और कहानी के सारे विस्तार पर छाई रहती है। इसलिए यदि वह सामान्य नामवाला है तो उसके चरित्र से अलौकिकता-विधायक बातें नहीं सिद्ध होनी चाहिएँ न उसमें कुछ अप्रकृतत्व की झलक उत्पन्न की जा सकती है। इससे यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि विशेषता उत्पन्न करने के विचार से भारतीय ग्राम में निवास करनेवाले किसी चमार खेतिहर का नाम 'निर्मलकांत' रख दिया जाय। उसका नाम तो तभी ठीक लगेगा जब कुछ वैसा होगा जैसा कि हमारे गाँव के चमारों का नाम होता है, जैसे सरजू महतो, कन्हैया चमार, मंगरू चमार परंतु इसी प्रकार की प्रकृत नामावलि में 'चतुरी चमार' और 'सुजान-

1. *Albright, Short Story, pp.* 126.

भगत' भी हो सकते हैं। अपने वर्ग के यथार्थ के मेल में होने पर भी ये दोनों नाम कुछ विशेष मालूम पड़ते हैं। कल्पना-प्रसूत और भावात्मक इतिवृत्तों पर आधारित कहानियों में भी नायकों का नामकरण कुछ विशेषता-विधायक होना चाहिए। यों तो किसी राजकुमार का नाम रामसिंह, भरतसिंह और निर्मलकांत हो ही सकता है पर जब उसका नाम 'अरुणकुमार' रखा जाता है, तो वह कुछ अधिक प्रभावशाली वातावरण उत्पन्न करने में सहायक होता है। नाम से ही कुछ राजकीय वैभव व्यंजित होता है, इसलिए उसका नायकत्व न तो जल्दी विस्मृत हो सकता है और न तो उसके प्रभाव को किसी प्रकार नगण्य माना जा सकता है। इस प्रकार, प्रभाव-वैशिष्ट्य स्थापित करने की आकांक्षा विशिष्ट नामकरण के प्रयोग में प्रकट होती है।

पात्रों और स्थानों के नाम

पात्रों के नाम ऐसे होने चाहिएँ जिनकी वर्णमैत्री में संगति हो और उच्चारण करने में मुख को किसी प्रकार का व्यायाम न करना पड़े, जो सुखपूर्वक उच्चरित और व्यवहृत हो सकें। कर्णकटु और संयुक्त वर्णों के नाम अधिक नहीं रखे जाते; कहीं उपहास और व्यंग्य के अभिप्राय से द्वित्व वर्णोंवाले ऊटपटांग और सुनने में कर्णकटु नाम भले ही प्रयुक्त हों, पर सामान्यतः शिष्ट और गंभीर प्रभाव की कहानियों में नाम ऐसे होने चाहिएँ जो उच्चारण करने में सरल और सुखकर हों। इसके अतिरिक्त कहानीकार को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि एक ही कहानी में एक नाम की ध्वनि के अनुरूप ही ध्वनिवाले दूसरे पात्र न हों। ऐसा न मालूम पड़े कि एक नाम की ध्वनि का संतुलन दूसरा नाम कर रहा है अथवा एक शब्द का तुक दूसरा नाम पूरा कर रहा है। यदि किसी कहानी में 'सुक्खन' नाम के पात्र के साथ 'दुक्खन' नाम का दूसरा पात्र बैठा दिया जाय तो अच्छा नहीं मालूम पड़ेगा। ऐसा करने से न तो वह प्रकृत मालूम होगा

और न इससे प्रभाव ही गंभीर हो सकेगा। इसी तरह स्थानों के नाम के विषय में भी समझना चाहिए। यदि एक पात्र जिस गांव में रहता है, उसका नाम 'वेला' है तो दूसरे पात्र का गांव 'चमेला' नहीं हो सकता, 'कटहरी' भले ही हो जाय। सारांश कहने का यह है कि एक ही कहानी में प्रयुक्त होनेवाले कई नाम आपस में न तो तुकबाजी की मैत्री स्थापित करने पावें और न उनकी उच्चारण-ध्वनि में किसी विशेष प्रकार का प्रयासपूर्ण संतुलन स्थापित किया जाय। यदि इसका विचार नहीं रखा जायगा तो स्वाभाविकता और यथार्थता की दृष्टि से आपत्ति होगी। इसलिए कोई अनुभवी और सिद्धहस्त लेखक इस प्रकार का प्रयोग नहीं करता।

नाम और चरित्र का योग

पात्रों के नामकरण के विषय में प्राथमिक अथवा अनिवार्य आवश्यकता यह होनी चाहिए कि उसका नाम चारित्रिक विशिष्टता के अनुरूप हो। पात्र का जैसा चरित्र हो उसी के अनुरूप नाम शोभा देगा। जहां पात्र सरल सामान्य जीवन की स्थितियों में पड़ा दिखाया जायगा अथवा जहां चरित्र की कोई मोटी विशेषता का उद्घाटन अभीष्ट होगा वहां पात्र का नाम भी सहज रूप में उच्चरित हो सकनेवाला, चलता और व्यावहारिक रखा जाना चाहिए। पर जहां कोई बारीक व्यक्तित्व-विधायिनी चरित्र की सूक्ष्मता प्रकट करनी अभीप्सित होगी वहां कर्तृत्व की असाधारणता के अनुरूप ही पात्र का नाम-करण भी असाधारण करना पड़ेगा। चरित्र की किसी सूक्ष्म भंगिमा की लहर पैदा करनेवाला पात्र भी कोई विशेष नामवाला ही हो तभी वातावरण संतुलित और प्रकृत मालूम पड़ेगा। भावना से उद्दीप्त चरित्र का बारीक उतार-चढ़ाव देखना होगा तो फिर पात्र का नाम 'मधूलिका' और 'सालवती' अथवा 'शीरीं' और 'सारन्ध्रा' रखना पड़ेगा। 'सुजान-भगत' और 'रुक्मिन' नाम से ऐसे स्थल पर काम नहीं चल सकता। सारांश कहने का यह कि सामान्य और मोटे कर्म में

निरत पात्र का नाम सरल और व्यावहारिक होना चाहिए और चरित्र के अलौकिक चमत्कार और बारीक सूक्ष्मता को झलकानेवाले जो पात्र हों उनके नामों में भी चमत्कार और अलौकिकता का समावेश आवश्यक है। यथार्थता और प्रकृत के नाम पर ऐसा करना जरूरी है।

पात्र-प्रवेश

कहानी में पात्रों को प्रवेश करते समय लेखक को बहुत सजग रहना पड़ता है। वहाँ विचार की बात यह आती है कि कहीं पात्र के नामों का प्रवेश किसी विशेषता विधायक ढंग से तो नहीं किया गया। किसी ऐकांतिक प्रभाव के साथ नाम जब सामने लाया जायगा तो उसमें बड़ा बनावटीपन मालूम पड़ता है। साथ ही इस में यह भी विचार रखना चाहिए कि नाम उपस्थित करते समय इतिवृत्त के प्रभाव का आग्रह ध्वनित न हो। ऐसा न मालूम पड़े कि नाम कहानीकार हमारे ऊपर लाद रहा है। सिद्धान्त की बात यह है कि प्रथम अवसर पर नाम का उल्लेख करते समय लेखक को किसी प्रकार के चमत्कार का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कथा के प्रकृत प्रवाह में ही पात्रों के नाम का उदय हो जाना चाहिए। इस संबंध में यदि उदाहरण के द्वारा काम लिया जाय तो बात सरलता से स्पष्ट हो जा सकती है। "कान्ती, क्योंकि यही नाम कहा जाता है अथवा मान लीजिए यही उसका नाम है।" इसी प्रकार की पद्धति से नाम उपस्थित करना वर्जित होना चाहिये, क्योंकि एक तो इससे यह आभास प्रकट होता है कि बात सच नहीं है, कल्पना के अनुसार बात मान लेने की है और दूसरी बात यह भी झलकती है कि पात्र को उपस्थित करनेवाला कृतिकार वस्तुतः अपने पात्र से सर्वथा दूर है और उसकी यथातथ्यता का व्यावहारिक ज्ञान भी उसे नहीं मालूम पड़ता।

इतने निषेधात्मक नियमों और विधानों के बाद अब थोड़ा विधेय पक्ष का भी विचार करना आवश्यक है। अभी तक

कहानी में पात्रों का नाम निर्धारित करते समय क्या नहीं होना चाहिए इसका तो विचार किया गया, अब इसका भी विचार आवश्यक है कि नामकरण किस सिद्धान्त पर होने चाहिए। इस विषय में एक व्यापक, व्यावहारिक और सुनिश्चित नियम यह है कि देश, काल और सांस्कृतिक गठन के अनुरूप ही पात्रों का नाम स्थिर किया जाय। यदि कहानी में भारत का कोई ग्राम भूमिका रूप में ग्रहीत हुआ है तब तो पात्र का नाम 'पयाग' अथवा 'सुजान भगत' बहुत ठीक है, पर यदि देश दिल्ली का कनाट सर्कस है तो फिर ये नाम सामान्यत: औचित्य-विहीन मालूम पड़ेंगे। इसी तरह यदि मौर्य-कालीन सांस्कृतिक गठन के भीतर प्रतिष्ठित कोई पात्र हमें दिखाई पड़ता है तो उसका नाम 'सालवती' और 'अभयकुमार' जितना उचित मालूम पड़ता है उतना 'सिलिया' और 'झूरी' नहीं उपयुक्त होगा। यदि पूर्व-पीठिका के रूप में राजस्थान और मालवा का प्रांत है तो पात्र के नाम 'भारतेंद्रसिंह' और 'नरपतसिंह' जितने उपयुक्त मालूम पड़ेंगे उतने 'संतोष मुखोपाध्याय' और 'अतुल बनर्जी' नहीं। इस प्रकार बुद्धकाल के किसी पात्र के नाम 'बुद्धगुप्त' और 'मणिभद्र' नाम जितने अनुकूल होंगे उतने 'मुंशी मदारी लाल' और 'निर्भयकांत' नहीं। इसी तरह सांस्कृतिक गठन की भी बात सामने आ सकती है। एक विशेष प्रकार की संस्कृति के पात्रों के नाम उसके अनुरूप ही जब होंगे तभी यथार्थता अबाधित हो सकेगी। एक ऋत-अमृत जीविका से अपना भरण-पोषण करनेवाला जो ब्राह्मण परिवार होगा उसमें किसी आदमी का नाम ऐसा नहीं रखा जा सकता जो उस विशेष प्रकार की बनावट से सर्वथा भिन्न हो। सारांश कहने का यह है कि पात्रों का नाम स्वीकार करते समय देश, काल, संस्कृति और चारित्र्य का बहुत ही अधिक विचार रखना चाहिए। यदि इसमें कहीं भी चूक हुई तो कहानी के वातावरण संबंधी प्रभावोत्पादन में व्याघात पड़ेगा।

नामकरण का विधेय-पक्ष

नाम निर्धारण के साथ-साथ इस विषय में एक और महत्वपूर्ण बात रह जाती है जिसका विचार कहानी लिखने और पढ़नेवाले के मन में प्रायः आता है। पात्र के कृतित्व और स्थानीय रहन-सहन के अनुसार वेष-विन्यास और परिधान का व्यवहार भी होना चाहिए। मालवा के प्लेटो में हल-जोतते हुए किसान का परिधान लखनऊवा टोपी और अचकन नहीं हो सकती। उसे तो घुटने तक दुकच्छी धोती और मिर्जई अथवा बगलबन्दी के साथ एक पगड़ी में ही दिखाना अधिक प्राकृतिक और व्यावहारिक मालूम पड़ेगा। इसी तरह बंगाल का कोई किसान मालवा के किसान की तरह दिखा दिया जाय तो रसोद्बोधन में अवरोध उत्पन्न हो जायगा। संक्षेपतः इस विषय में यह मानना चाहिए कि वेश-विन्यास के विषय में भी देश और काल का पर्याप्त विचार रखना चाहिए। यथार्थता और प्रकृतत्व के विचार से पात्र के व्यक्तित्व-निरूपण में वेश-परिधान का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान मानना चाहिए।

वेश-विन्यास

इसी तरह चरित्र-निरूपण में भाषा का विचार और प्रयोग भी अनिवार्य है। व्यावहारिक जीवन में यह दिखाई पड़ता है कि प्राचीन पद्धति से संस्कृत की शिक्षा पाए हुए पंडितों और आधुनिक शिक्षा-दीक्षा के वातावरण में पले हुए व्यक्ति में, ग्राम में निवास करने वाली सामान्य जनता और सुशिक्षित नागरिक में, भाषा-प्रयोग के विचार से बड़ा अंतर दिखाई पड़ता है। हिन्दी का प्रयोग इलाहाबाद और काशी के सुशिक्षित अपने बोलचाल में जैसा करते हैं, उस प्रकार के हमारे बिहारी अथवा बंगाली भाई नहीं करते। ऐसी स्थिति में जो पात्र सभ्यता की जिस सीढ़ी पर रहता है अथवा शिक्षा-दीक्षा विषयक उसकी जैसी बनावट होगी उसी प्रकार की उसकी भाषा भी होगी और उसके संलाप की पद्धति में भी अंतर होगा। स्थानीय वातावरण को सजीवता प्रदान करने में इन

भाषा-प्रयोग

विविध तत्वों का यदि उचित उपयोग किया जायगा तो किसी कहानी में रचना-कौशल अधिक मुखरित मिलेगा। इसी पद्धति से सम्बोधन-विधि के महत्व को भी समझाया जा सकता है। वातावरण और पात्र-भेद से सम्बोधनों के शब्द भी ऐसे हो सकते हैं जिनसे ज्ञात हो सकता है कि कहानी में वर्णित देश-काल कैसा है और इनमें अवतरित मानव का कुल-शील कैसा है। वृन्दावनलाल वर्मा की कहानी 'शरणागत' में आए हुए एक संबोधन 'दाऊजी' ने व्यक्ति और देश का आवश्यक संकेत उपस्थित कर दिया है।

———

संवाद

साहित्यिक रचनाओं में अन्य तत्वों की अपेक्षा संवाद तत्व का महत्व अधिक प्रत्यक्ष रहता है। कथानक के विन्यास में कहाँ-क्या सौन्दर्य होता है, इसका उद्‌घाटन तर्क-वितर्क और प्रतिपादन से किया जाता है अथवा चरित्रांकन में किस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में किस प्रकार की वृत्ति का आभोग सिद्ध होता है, इसको हमें कल्पनाजन्य अनुभूति से समझने की चेष्टा करनी पड़ती है, परन्तु संवाद अपने प्रकृतत्व, औचित्य और व्यावहारिक रचना से ही अपने सौन्दर्य और आकर्षण को समझा देते हैं, उसमें तर्क-वितर्क चिन्तन-मनन की उतनी अपेक्षा नहीं होती। यदि देश-काल और संस्कृति विशेष का कोई प्राणी किसी से भी किसी प्रकार की बात-चीत करता है तो उसकी बातचीत की प्रांजलता और विदग्धता, शब्द और वाक्य के प्रयोग, भाषा और पदावली से हमें प्रत्यक्ष मालूम होता है कि व्यक्ति किस कोटि, वर्ग, देश और काल का है। संवाद से अन्य सभी तत्वों का सीधा संबंध होता है। संवाद जहाँ एक ओर कथा के प्रसार का मुख्य साधन होता है, वहीं चारित्र्योद्‌घाटन का भी; साथ ही देश-काल का भी पर्याप्त बोध करा देता है। इस प्रकार साहित्य नाम से अभिहित होनेवाले रचना के जितने भी रूप हैं, उनमें संवाद तत्व अनिवार्य होता है।

संवाद तत्व का महत्व

इस तत्व की उक्त व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण उसके प्रयोग, कौशल और सिद्धियों की विवेचना नितांत आवश्यक समझनी चाहिए। इस तत्व के स्वरूपगठन के विषय में सूक्ष्मेक्षिका के साथ विचार करने से सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न रचना-प्रकारों में इस तत्व का भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के साथ प्रयोग होता है। यों तो मूलतः यह नाटक का प्रधान साधन है, पर सामान्यतः अन्य सभी रचना-प्रकारों में विशद प्रयोग अनिवार्य होता है। कथा साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास में इसका स्वच्छन्द, अनियंत्रित और अपरिमित विहार मिलता है, परन्तु कहानी में इसका लघु-प्रसारी, वैदग्ध्यपूर्ण, आकर्षक और चमत्कारी प्रयोग ही इष्ट होता है।

कहानी में संवाद

यों तो जहाँ भी कहानी में इसका उपयोग किया जायगा, वहाँ अपने-अपने ढंग के परिणाम खिल उठेंगे, पर जहाँ इस तत्व का क्षिप्र और द्रुत प्रयोग कथा भाग को उत्कर्षोन्मुख करेगा, वहाँ एक प्रकार का विशेष चमत्कार दिखाई पड़ेगा। कहानी में जिस अंश में संवाद-सौन्दर्य निखरा मिलेगा वह अंश अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ उभड़ पड़ेगा। यदि कहानी का आरम्भ लघु और गतिशील, पर प्रकृत और औचित्यपूर्ण संवादों से किया गया है तो पाठकों का ध्यान विषय की ओर उसी प्रकार केन्द्रित हो उठता है जैसे रंगमंच पर होनेवाले किसी अभिनय की ओर।

इस तत्व का कौशलपूर्ण प्रयोग प्रसाद की कहानी 'आकाश दीप' म देखा जा सकता है जहाँ विषय का नाटकीय समारम्भ बड़ा कुतूहलपूर्ण और चमत्कारमय दिखाई पड़ता है।

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ी शीत है, कहीं से एक कम्बल डाल कर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आंधी की संभावना है। यही अवसर है। आज मेरे बंधन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बंदी हो।"

"हां धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से संबध रज्जु काट सकोगे ?"

"हां।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे पहले बंदी ने अपने को स्वतंत्र कर लिया। दूसरे का बंधन खोलने का प्रयत्न करने लगा।

"आकाश दीप"—प्रसाद

इस छोटे-से संवाद से सभी आवश्यक बातों का ज्ञान हो जाता है। जिज्ञासा और कुतूहल को जगाते हुए कहानी का आरम्भ नाटक की तरह किया गया है। परिस्थिति के साथ-साथ पात्रों का सामान्य परिचय संवाद के द्वारा स्वयं मिल जाता है। इसी रचना में आगे चलकर अन्य स्थलों पर आन्तरिक भाव-द्वन्द्व और विविध प्रकार की मनोवृत्तियों के उद्घाटन में संवाद-सौन्दर्य ने अच्छा योग दिया है।

कहानी के विषय में कुछ विचारक तो इस सीमा तक जाते हैं कि उसे संवादात्मक चित्र-विधान मानते हैं। उनका कहना है कि कहानी एक चित्र होती है और उस चित्र की कड़ियाँ और जोड़ संवाद से बाँध लिए जाते हैं। यह कथन आंशिक रूप में सत्य है, क्योंकि सब कहानियों में संवादात्मक सौन्दर्य सामान्यतः सिद्ध ही हो, ऐसी बात नहीं है। शुद्ध इतिवृत्त-प्रधान ऐसी भी कहानियाँ मिलेंगी जिनमें संवाद की बहुलता न हो अथवा संवाद बिल्कुल न

हों। शिवपूजन सहाय की 'कहानी का प्लाट' शीर्षक रचना में यह बात देखी जा सकती है। इस ढंग की रचनाओं में ऐसा भी दिखाई पड़ेगा कि प्रसंगवश जो संवाद आएँ भी वे ऐसे हो सकते हैं जिनमें न कोई आकर्षण हो और न किसी प्रकार का वैदग्ध्य। अवश्य ही ऐसी कहानियाँ रचना-सौन्दर्य के विचार से कलात्मक नहीं मानी जायँगी पर उनके कहानी होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इसलिए इस तत्व की अनिवार्यता तो नहीं स्वीकार की जा सकती।

संवाद-तत्व को प्रभावपूर्ण, आकर्षक और पूर्णतया साभिप्राय बनाने के लिए मुख्य दो बातों का विचार आवश्यक होता है।

संवाद के धर्म

पात्रों की परिस्थितियों का सम्यक् बोध और उनके व्यक्तित्व का सूक्ष्म परिचय कृतिकार को अवश्य होना चाहिए और उसे अपने पात्रों की संपूर्ण गतिविधि पर दृष्टि जमाए रखनी चाहिए; तभी यह संभव होगा कि संवाद प्रकृत और सजीव हो सकेंगे और साथ ही उनमें चमत्कार और आकर्षण उत्पन्न हो सकेगा। उक्त उद्धरण में विषयगत सजीवता और संवादात्मक कथा का मसृण प्रवाह देखा जा सकता है। कथानक इतने सहज रूप में सरकता और विस्तार पाता गया है कि परिस्थिति और पात्रों की अवस्था के विचार से वह बड़ा प्रकृत मालूम पड़ता है। उसकी समस्त योजना से यह मालूम पड़ता है कि सम्भवतः लेखक की कल्पना में सारा चित्र और वातावरण सजीव रूप में मुखरित था। उसे उसने यथार्थता से संवादों में व्यक्त कर दिया है।

इस तत्व के प्रयोग-कर्ता को प्रकृतत्व की रक्षा के विचार से यह समझ रखना चाहिए कि इसका प्रयोग केवल सिद्धान्त-प्रतिपादन के निमित न कराया जाय। ऐसा प्रायः देखा जाता है—कहानी और उपन्यास दोनों में—कि कथा-प्रसार अथवा चरित्रांकन अथवा देश-काल की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त केवल परिस्थिति-चित्रण अथवा सिद्धान्त-प्रतिपादन और विवेचन के निमित्त भी संवादों का

प्रयोग लेखक करता है। मात्रा और औचित्य के विषय में तनिक भी असावधानी होने पर ऐसे स्थल सर्वथा अप्राकृतिक, भारवत् और असन्तुलित हो जाते हैं। इस प्रकार के संवाद कहानी की प्रभावान्विति के लिए साधक न होकर बाधक हो उठते हैं। इसीलिए लेखक को चाहिए कि वह अपने बोलनेवाले पात्रों के अन्तःकरण में क्रमशः अच्छी तरह प्रविष्ट रहे और बारी-बारी से जितने भी पात्र संवाद में योग दे रहे हों उनकी शिक्षा-दीक्षा, देश-काल और सांस्कृतिक गठन के अनुरूप बातचीत कराए। इस विषय में वहाँ सजीवता नहीं उत्पन्न हो सकेगी जहाँ एक पात्र की कही हुई बात का प्रभाव—अनुभावों के रूप में दूसरे पात्र पर न दिखाई पड़े और दूसरा पात्र एक विशेष प्रकार की आंगिक चेष्टाओं और मुद्राओं के साथ पहले का उत्तर देता दिखाया जाय। इस प्रसंग में कुछ सामान्य सिद्धान्तों का विचार रखना आवश्यक है:—

(क) संवाद लघु और अभिनयात्मक हों क्योंकि यथार्थ जीवन में जब दो-चार व्यक्तियों में बातचीत होने लगती है तो एक ही व्यक्ति बहुत देर तक नहीं बोलता रहता।

(ख) बीच-बीच में, संवाद को सजीव बनाने के अभिप्राय से या तो बोलने वाला बोलता-बोलता कुछ क्षण के लिए रुक जाएगा, अथवा परिस्थिति के अनुरूप पहले की बात को काटकर दूसरा स्वयं बोल उठेगा। इस प्रकार के व्यवधान स्वाभाविकता का अच्छा उदाहरण उपस्थित करेंगे।

(ग) कभी-कभी ऐसा भी हो जा सकता है कि एक पात्र के उत्तर में जब तक दूसरा पात्र कुछ बोले इसके पहले ही पहला पात्र दूसरा प्रश्न अथवा प्रसंग उपस्थित कर दे अथवा बात की धारा ही बदल दे।

(घ) ऐसा भी हो सकता है कि पहले पात्र की कुछ कही हुई बात को सुनकर और उसके आगे की बात की कल्पना

करके दूसरा पात्र बीच ही में बोल उठे, और पहला जो कुछ आगे कहनेवाला हो उसका भी अनुमान करके वह आगे का भी उत्तर जोड़ दे।

चरित्र-प्रधान कहानियों में संवाद-तत्व का विशेष महत्व होता है, क्योंकि व्यक्ति विशेष की व्यक्तित्व-विषयक प्रवृत्तियों और अभिरुचियों का इसके द्वारा बड़ा स्वाभाविक परिचय दिया जा सकता है। जो व्यक्ति अपनी चरित्रगत विशेषताओं के कारण अन्य से पृथक् मालूम पड़ता है उसकी वाणी और संवादभंगिमा में भी कुछ, अपनापन होना आवश्यक है। उसकी बातचीत करने की पद्धति भी उसके व्यक्तित्व को उभाड़ने में पूरी सहायता कर सकती है। वाक्यों में उनके उतार-चढ़ाव में, उनके विभिन्न अंशों पर पड़नेवाले स्वराघातों में अथवा व्यक्तित्व-विधायक आवृत्तियों के अनुरूप पदावली के प्रयोग में बोलनेवाले का एक अपनापन रहता है। उसकी बातचीत के ढंग में अपना एक स्वतन्त्र निरालापन ऐसा स्पष्ट दिखाई पड़े कि उस व्यक्ति की अपनी इकाई को स्पष्ट कर दे। एक ही पात्र भिन्न-भिन्न स्थितियों में पड़ने के कारण, अथवा विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक भूमिकाओं पर स्थापित रहने के कारण तदनुरूप रंगढंग से ही अपने विचार और भाव प्रकट करता है। परिस्थिति और आंतरिक भावों के अनुरूप उसकी वाणी का उतार-चढ़ाव बिल्कुल बदल सकता है। अतएव अपनी आंतरिक और वाह्य परिस्थितियों के अनुरूप वह विविध रूप में बोलता और बात करता दिखाया जाय—यही ठीक मालूम पड़ता है। लेकिन इन सम्पूर्ण परिवर्तनों में परिवर्तनशीलता रहते हुए भी उसकी संवादात्मक पद्धति एक विशेष प्रकार की बनी ही रहकर उसके व्यक्तित्व को उभाड़े रहे—ऐसे क्रम का निर्वाह करना चाहिए। निम्नलिखित उद्धरण में एक ही पात्र भिन्न-भिन्न स्थितियों

चरित्र-प्रकाशक संवाद

में भिन्न-भिन्न पद्धति का संवाद करते हुए भी किस प्रकार अपने वैशिष्टच को बनाए रखता है और साथ ही अपनी मानसिक दशा के सम्पूर्ण उतार-चढ़ाव का कैसा परिचय देता है, इसका रूप देखा जा सकता है। कहीं तो संवादों से पात्रकी आन्तरिक वेदना व्यंजित होती मिलती है, कहीं निवेदन विषयक विनति प्रकट होती है और कहीं आन्तरिक उद्वेग गरजता मिलता है।

(१)

"भद्रे ? तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो ?

"उत्सव ! हाँ, उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान..."

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है ? भद्र ! आप क्या मुझे इस अवस्था में संतुष्ट न रहने देंगे ?"

"मेरा हृदय तुम्हारी इस छवि का भक्त बन गया है देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडंबना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित ! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुंन में रहना नहीं जानती। उसे...."

"राजकुमार ! मैं कृषक बालिका हूँ। आप नंदन विहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुख से विकल हूँ, मेरा उपहास न करो।"

"मैं कौशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कौशल का राष्ट्रीय नियम है, मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या है ?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिचकर एक कृषक बालिका का अपमान करने न आता।"

मधूलिका उठ खड़ी हुई।"

(२)

"......महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—'तुम्हें कहीं देखा है।

"तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य मांगने आई हो, क्यों? अच्छा, अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!"

"नहीं महाराज मुझे मूल्य नहीं चाहिए।"

"मूर्ख! फिर क्या चाहिए।"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिण वाले नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्य मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है, तिसपर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ?"

"सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या कहूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना...

"देव! जैसी आज्ञा हो!"

"जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञा-पत्र देने का आदेश करता हूं।

"जय हो देव!" कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई।

(३)

"रमणी जसे विकारग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी--"बाँध लो, मुझ बांध लो, मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हँस पड़, बोले "पगली है।"

"पगली! नहीं, यदि वही हो तो, तो उतनी विचार वेदना क्यों होती? "मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।"

"क्या है? स्पष्ट कह!"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिनी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा--"तू क्या कह रही है?"

"मैं सत्य कह रही हूँ, शीघ्रता करो।"

प्रसाद--'पुरस्कार'

भावानुरूप संवाद

इसी प्रसंग में यह भी विचार कर लेना चाहिए कि भिन्न-भिन्न स्थायी भावों के अनुरूप संवादों की भाषा, वाक्य-योजना और और पदावली के प्रयोग में विशिष्टता बर्तनी चाहिए अन्यथा उस भाव का ऐकान्तिक और खण्ड-प्रभाव ठीक से जम नहीं पाएगा। साधारण बातचीत चलते-चलते किस प्रकार मारपीट तक की बात आ सकती है, इसको वृन्दावन लाल वर्मा की कहानी 'शरणागत' में देखा जा सकता है। इसी प्रकार कान्तासंमित घरेलू बातचीत का रूप देखना हो तो विश्वम्भरनाथ शर्मा की 'ताई' कहानी में देखा जा सकता है। ऐंठ और अकड़ की बात देखनी हो तो प्रसाद की 'गुंडा' या 'सलीम' नामक कहानियों में देखा जा सकता है। इस प्रकार यह आवश्यक समझना चाहिए कि जहाँ जिस प्रकार की परिस्थितियों में जिस भाव की सिद्धि दिखानी हो वहाँ उसी प्रकार का संवाद कराया जाय।

सजीवता और यथार्थता को मुखरित करने के अभिप्राय से प्रायः सभी श्रेष्ठ लेखक संवादों में स्थानीय वातावरण की झलक देने की अनिवार्य अभिलाषा या चेष्टा करते हैं।

संवाद और वातावरण यदि कथानक सुदूर अतीत का हुआ तो तत्कालीन समाज और व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाली पदावली के व्यवहार से काल की दूरी का आभास उभाड़ा जा सकता है। 'प्रसाद' अथवा चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों में इस प्रकार के संवाद प्रायः देखे जा सकते हैं। उनमें संवाद-पद्धति से ही कथा-काल का परिज्ञान हो जाता है। अभिवादन, संबोधन, इत्यादि से भी युगानुरूपता की झलक दी जा सकती है। इसी तरह संवादों के माध्यम से स्थानीय वातावरण का पूरा-पूरा आभास दिया जा सकता है। देश के किस खण्ड और वर्ग का कथा-भाग कहानी के वस्तु-प्रसार में प्रयुक्त हुआ है—इसका ज्ञान इस माध्यम से अच्छी तरह स्पष्ट हो सकता है। खसिया जाति और जीवन की कहानियाँ लिखते समय 'अज्ञेय' ने तद्देशीय प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ वहाँ के निवासियों के संवाद में उनकी अपनी बोली के बहुत से स्थानीय शब्द ऐसी सुन्दरता से प्रयुक्त किए हैं कि सारा वातावरण सजीव हो उठता है। रांगेयराघव की 'तूफान' कहानी में भी इस प्रकार की विशेषता मिलेगी। प्रसाद की कहानी 'गुंडा' और 'सलीम' में अथवा अश्क की 'डाची' शीर्षक कहानी में इस प्रकार के संवादों का अच्छा-सा रूप देखा जा सकता है। वृन्दावनलाल वर्मा बुन्देलखंडी जुहार, अभिवादन और संबोधनों के अतिरिक्त वहाँ के मुहावरों और स्वराघातों का भी अच्छा प्रयोग कर लेते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त उपायों से संवाद-तत्व रचना के लिए बहुत उपादेय हो उठता है। अवश्य ही इस विषय में औचित्य की सीमा का विचार कड़ाई से होना चाहिए। मात्राधिक्य होते ही यही जो गुण की चीज है वह रचनाकार के लिए दोष बन जायगी और पाठक को व्यावहारिक आपत्तियाँ होने लगेंगी।

तनिक और आगे बढ़कर बाकर ने कहा—"सच कहता हूँ, चौधरी, इस जैसी सुन्दर सांडनी सारी मंडी में दिखाई नहीं दी।"

हर्ष से नंदू का सीना दुगना हो गया, बोला—"आ एक ही के, इह तो सगली फूटरी हैं। हूँ तो इन्हें चारा फलूँसी नारिया करूँ।"[१]

धीरे से बाकर ने पूछा—'बेचोगे इसे?'

नंदू ने कहा—"बेचने लई तो मंडी मां आऊँ हूँ।"

"तो फिर बताओ कितने को दोगे?" बाकर ने पूछा।

नंदू ने नख से शिख तक बाकर पर एक दृष्टि डाली और हंसते हुए बोला—

"तने चाही जै का तेरे धनी बेई मोल लेसी।"[२]

"मुझे चाहिए"—बाकर ने दृढ़ता से कहा।

नंदू ने उपेक्षा से सिर हिलाया। इस मजदूर की यह बिसात कि ऐसी सुन्दर सांडनी मोल ले—"तू कि लेसी?"

बाकर की जेब में पड़े हुए डेढ़ सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने को व्यग्र हो उठे, तनिक जोश के साथ उसने कहा—"तुम्हें इससे क्या, कोई ले, तुम्हें अपनी कीमत से गरज है, तुम मोल बताओ।"

नंदू ने उसके जीर्ण शीर्ण कपड़ों, घुटनों से उठे हुए तहमद और जैसे नूह के वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए टालने की गरज से कहा—'जा जा तू इसी विशी ले आई, इंगों मोल तो आठ बीसी सूं घाट के नाहीं।"[३]

'डाची'—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

---

१. यह एक ही क्या, यह तो सब ही सुन्दर है, म इन्हें चारा और फलूंसी (गवारा और मोट) देता हूँ।

२. तुझे चाहिए या तू अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है?

३. जा जा तू कोई ऐसी वैसी सांडनी खरीद ले, इसका मूल्य तो १६०) से कम नहीं।

रंगमंचीय आकर्षणवाले अथवा व्यक्तित्व विधायक संवादों के अतिरिक्त उसके अन्य अनेक भेद हो सकते हैं—वर्गगत, बौद्धिक, काव्यात्मक, व्यावहारिक, भावात्मक, इत्यादि।

संवाद के अन्य भेद

वर्गगत संवाद उसे कहना चाहिए जिससे वर्ग विशेष का वैचित्र्य उद्‌घाटित होता हो। बैसवाड़े का ठाकुर जिस अक़ड़ और कठोर ढंग से ऐंठ कर बोलता है वैसा दूसरों में नहीं दिखाई पड़ेगा। अथवा नगर के स्पर्श में रहनेवाले खेतिहर किसान की बातचीत में जैसा चौकन्नापन और गंवारपन मिलेगा वैसा अन्यत्र नहीं हो सकता। शुद्ध बौद्धिक संवाद सामान्यतः कहानी में वर्ज्य ही मानने चाहिए; पर यदि कोई श्रेष्ठ कृतिकार उसका औचित्यपूर्ण प्रयोग करे तो कुछ दूर तक अच्छे बन सकते हैं। उपन्यासों में इसका दुरुपयोग प्रायः दिखाई पड़ेगा, जैसे—प्रेमचन्द के गोदान में—मेहता और मालती का वितर्कपूर्ण संवाद उत्तरार्द्ध में भरा-पड़ा है। इस प्रकार के लघु-प्रसारी बौद्धिक संवाद का सफल प्रयोग 'अज्ञेय' की कहानी 'शत्रु' में मिलता है। वह कहानी छोटी है और संवाद प्रायः बड़े नहीं है अतएव भार हलका होने के कारण अखरता नहीं।

भावात्मक कहानियों में संवादों का प्रयोग भी सामान्यतः भाव-प्रधान और काव्यात्मक ही होना चाहिए, तभी विषयानुरूप संगति बैठ सकेगी। ऐसी रचनाओं में व्यंजना की

भावात्मक संवाद

पद्धति यदि लाक्षणिक एवं भावाद्बोधन में सहायक हुई तो वातावरण की मनोरमता में योग मिलता है। कुशल और भावप्रवण कृतिकार अपनी ऐसी रचनाओं में संवाद-सौंदर्य के बल पर अनूठी मार्मिकता की सृष्टि कर देते हैं। ऐसे काव्यात्मक संवादों में आलंकारिक अप्रस्तुत-विधान, उक्ति-वैचित्र्य एवं विदग्धता की सारी सजावट ऐसी कौशलपूर्ण ढंग से सामने आएगी कि सारा प्रसंग चित्रवत् खिल उठता है और नितान्त चित्ताकर्षक और सुरुचिपूर्ण मालूम पड़ने लगता है। इसी

के साथ यदि वर्ण्य-विषय भी किसी प्रकार की लोकोत्तरता से संयुक्त हुआ तो उस समय इस प्रकार के संवाद विशेष मनोरम और प्रिय मालूम पड़ेंगे, जैसे—प्रेमचन्द की 'आत्म-संगीत' कहानी में। इस प्रकार के संवादों के राजा हैं प्रसाद जी। यों तो 'आकाश दीप' संग्रह की अधिकांश कहानियों में प्रायः ऐसे शुद्ध काव्यात्मक संवाद देखे जा सकते हैं, पर विशेषतः इनका यथार्थ और शुद्ध रूप 'स्वर्ग के खड़हर में' अथवा 'समुद्र संतरण' शीर्षक कहानियों में प्राप्त होता है।

......धीवर बाला आकर खड़ी हो गई बोली—"मुझे किसने पुकारा ?"

"मैंने।"

"क्या कहकर पुकारा ?"

"सुन्दरी।"

"क्यों मुझ में क्या सौंदर्य है ? और है भी कुछ तो क्या तुमसे विशेष ?

"हाँ, मैं आज तक किसी को सुन्दर कहकर नहीं पुकार सका था, क्योंकि वह सौंदर्य विवेचना मुझमें अबतक नहीं थी।"

"आज अकस्मात् यह सौंदर्य-विवेक तुम्हारे हृदय में कहाँ से आया ?"

"तुम्हें देखकर मेरी सोई हुई सौंदर्य तृष्णा जाग गई।"

"परंतु भाषा में जिसे सौंदर्य कहते हैं, वह तो तुममें पूर्ण है।"

"मैं यह नहीं मानता, क्योंकि फिर सब मुझी को चाहते, सब मेरे पीछे बावले बने घूमते। यह तो नहीं हुआ। मैं राजकुमार हूँ, मेरे वैभव का प्रभाव चाहे सौंदर्य का सृजन कर देता हो। पर मैं उसका स्वागत नहीं करता। उस प्रेम-निमंत्रण में वास्तविकता कुछ नहीं।"

"हाँ, तो तुम राजकुमार हो ! इसी से तुम्हारा सौंदर्य सापेक्ष है।"

"तुम कौन हो ?"

"धीवर-बालिका।"

"क्या करती हो ?"

"मछली फंसाती हूँ।" कह कर उसने जाल को लहरा दिया।

"जब इस अनन्त एकांत में लहरियों के मिस प्रकृति अपनी हंसी का चित्र दत्तचित्त होकर बना रही है, तब तुम उसी के अंचल में ऐसे निष्ठुर काम करती हो ?"

"निष्ठुर है तो, पर मैं विवश हूँ। हमारे द्वीप के राजकुमार का परिणय होनेवाला है। उसी उत्सव के लिए सुनहली मछलियाँ फंसाती हूँ। ऐसी ही आज्ञा है।"

"परंतु वह व्याह तो होगा नहीं।"

"तुम कौन हो ?"

"मैं भी राजकुमार हूँ। राजकुमारों को अपने चक्र की बात विदित रहती है, इसलिए कहता हूँ।"

"धीवर बाला ने एक बार सुदर्शन के मुख की ओर देखा, फिर कहा--"तब तो मैं इन निरीह जीवों को छोड़ देती हूँ।"

सुदर्शन ने कुतूहल से देखा, बालिका ने अपने अंचल से सुनहली मछलियों की भरी हुई मूठ समुद्र जल में बिखेर दी...

'समुद्र संतरण'--प्रसाद

अलंकृत संवाद

इस शैली के संवाद का एक वृहद्तर रूप भी हो सकता है, जिसमें व्यंजना के अलंकरण की ओर विशेष प्रवृत्ति दिखाई जा सकती है। वहाँ कोई तथ्यमूलक और परिष्कृत वितर्क ही विषय बन जा सकता है। वहाँ कथा-प्रसार और व्यक्ति-वैचित्र्य का उद्घाटन लक्ष्य नहीं रहेगा, इसलिए उसमें प्रवाह और गतिशीलता नहीं रहेगी। वहाँ अन्य बातों को त्याग कर लेखक केवल गद्य-काव्य की सर्जना में लग जा सकता है। आधुनिक युग में इस प्रकार के

प्रयोगों की ओर सामान्यतः अभिरुचि नहीं है। अतएव कहा जा सकता है कि इस प्रकार के संवाद केवल कल्पना-प्रधान, सिद्धान्त-निरूपक और सांकेतिक रचनाओं में ही चल सकते हैं। कहानी स्वभावतः जन साधारण में साहित्यिक अभिरुचि का विस्तार करने के लिए है; इसलिए उसे दर्शन की ओर की झुकावट——किसी भी रूप में और वह भी शुद्ध काव्य-पद्धति से मान्य नहीं हो सकती। हिन्दी में इस प्रकार के संवाद का प्रयोग केवल चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'पर्यवसान' इत्यादि कहानियों में किया है। 'नन्दन-निकुञ्ज' शीर्षक उनकी रचना में इस प्रकार के संवाद कहीं भी देखे जा सकते हैं। सच बात तो यह है कि शुद्ध सिद्धान्त-विवेचन में मूलतः व्यक्ति-वादी रचना की प्रवृत्तियों को आलोच्य विषय नहीं बनाया जा सकता; इसलिए इस प्रकार के संवादों के लिए कोई अलग कोटि निर्धारित नहीं होनी चाहिए।

व्यावहारिक संवाद

संवाद का अति प्रयुक्त और अनिवार्य प्रयोग वह होता है जिसे और कुछ न कहकर हम व्यावहारिक कह सकते हैं। सभी प्रकार के पात्र, व्यावहारिक और दैनिक जीवन में कुछ ऐसे विषयों पर और ऐसे सहज ढंग से बातचीत करते हैं कि संवाद का सहज और व्यवहार-ज्ञान-संपृक्त रूप खड़ा हो जाता है और व्यवहार की गतिविधि और बोलनेवाले की बनावट कैसी है इसका उसमें पूरा संकेत मिल जाता है। इस प्रकार के संवाद से कथा, विषय और व्यक्ति का बोध बड़ी सरलता से कराया जा सकता है। यही कारण है कि प्रायः सभी इतिवृत्त प्रधान कहानियों में इसका भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग मिलता है। इन संवादों में जहाँ एक ओर व्यावहारिक जीवन का खुला ज्ञान मिलता है वहीं देश-काल का आभास अच्छे ढंग से हो जाता है। प्रेमचन्द व्यावहारिक संवादों के लिए अमर रहेंगे। सामान्यतः उनकी सभी कहानियों में इस प्रकार के संवाद मिलते हैं। मुहावरों का प्रयोग, टुकड़ों-टुकड़ों में बातचीत की

प्रवृत्ति और व्यंग्य-वैदग्ध्य इस प्रकार के संवादों में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। ऋषभचरण जैन की कहानी 'दान' में अथवा प्रसाद की कहानी 'मधुवा' में भी इसी प्रकार के संवादों का प्रयोग हुआ है। इसे केवल उदाहरण का संकेत समझना चाहिए, नहीं तो यह संवाद का ऐसा प्रकार है जिसका प्रयोग आरम्भ करनेवाले से लेकर प्रौढ़तम लेखक तक करता है। इसलिए इस कोटि के व्यावहारिक संवादों का रूप किसी भी कहानी में देखा जा सकता है।

अन्त में यदि उक्त संपूर्ण विवेचना का हम सारा-संग्रह चाहें तो संक्षेप में कहा जा सकता है कि केवल क्रियोत्तेजक, गतिशील और भावोद्बोधन करनेवाले संवाद ही कहानी में स्वीकृत होने चाहिए। केवल चमत्कार-प्रदर्शन और सिद्धान्त-विवेचन करनेवाले संवाद उपन्यासों में ही चल सकते हैं। यदि उनका प्रयोग कहानी में होगा तो अपनी परिस्थिति-परिमिति में दौड़नेवाला कहानी का जो कथानक होगा वह अवरुद्ध हो उठेगा और लघु, क्षिप्र और नाटकीय गति से चलनेवाली कहानी ठीक नहीं उतर सकेगी। आधुनिक कहानियों में संवाद-तत्व के सुन्दर ग्रथन की ओर विशेष प्रवृत्ति दिखाई देती है। सच पूछा जाय तो संवाद-सौंदर्य का निर्वाह, आज की कहानी की प्रमुख विशेषता है।

सारांश

शीर्षक

शीर्षक का महत्व

कहानी के बाह्य एवं स्थूल पक्ष का विचार करते समय 'शीर्षक' की मीमांसा बड़ी महत्वपूर्ण मालूम पड़ती है। इस महत्व को दो रूपों में देखा जा सकता है। पहली बात विचार की यह रहती है कि कहानी के रचना-काल का संकेत इससे मिल जा सकता है। शीर्षक का विचार कर कहा जा सकता है कि 'राजा भोज का सपना' और 'आपत्तियों का पर्वत' आरम्भिक युग की ही कहानियाँ हो सकती हैं। रचना-सौंदर्य का विकास हो जाने पर इस प्रकार के विवरणात्मक शीर्षकों का प्रयोग संभव नहीं होता। ऐसे शीर्षकों से तो कहानी की सारी दौड़ ही सामने खड़ी हो जाती है। कोई भी प्रौढ़ लेखक ऐसे निरावृत शीर्षक में सौंदर्य नहीं मानेगा। वह तो बिना बने-ठने कुछ कहने को तैयार नहीं होगा। इसलिए कहा जा सकता है कि शीर्षक से कहानी अथवा कहानीकार के विकास-क्रम का आभास लग जाता है। इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में 'कहानी' शब्द ही उपस्थित है, इसलिए ऐसे शीर्षक में पाठक के लिए किसी प्रकार के अनुमान-प्रसार की भूमि नहीं रह जाती।

दूसरी महत्व की बात 'शीर्षक' में यह दिखाई पड़ती है कि उससे कृतिकार की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का पूरा परिचय हो जाता

है। लेखक की अभिरुचि किस प्रकार के विषयों की ओर है अथवा वह विषय के आनयन में कहाँ तक व्यावहारिक है अथवा कहाँ तक काव्यात्मक, इसका भी संकेत शीर्षक से मिल जाता है। नित्य के सामान्य एवं व्यावहारिक जीवन की कथा कहनेवाले कृतिकार प्रेमचन्द की प्रवृत्ति जैसे यथार्थ विषय-चित्रण की ओर अधिक रहती है उसी प्रकार उनकी कहानियों के शीर्षक भी नितान्त चलते और अलंकार विहीन मिलते हैं। दूसरी ओर प्रसाद साधारणतः जीवन और जगत् से कुछ दूर हटकर विषय को ढूँढ़ते हैं और अतीत के अन्तराल में रमणीय वातावरण की कल्पना करते हैं। अतः विषय-चयन का जैसा उनका अपना क्षेत्र है उसी प्रकार उनके शीर्षकों में भी कुछ दूरी और कुछ भावप्रवण कल्पना का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण सामने रखे जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि 'शीर्षक' का रूप देखकर यह कहा जा सकता है कि कहानीकार किस वर्ग का है और उसकी अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि किस प्रकार के शीर्षक की ओर विशेष है।

कहानी-रचना का अधिकाधिक विकास हो जाने पर और निरन्तर अनेकानेक रूप-रंग की कहानियों के प्रकाशित होते रहने से पाठक के सम्मुख ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि वह कौन सी रचना पढ़े और कौन सी न पढ़े। वह सोचता है कि उसके सामने विभिन्न प्रकार की कहानियों का जो संग्रह पड़ा है उसमें से पहले वह कौन सी कृति पढ़े जो उसे अधिक अच्छी लगे। ऐसी स्थिति में कोई पाठक तो किसी कहानी के प्रसार में छपे चित्रों को देखता-समझता है और विचार करता है कि उसे पढ़े कि नहीं; दूसरा रसिक अपने ढंग की बात ढूँढ़ता है और कहीं से दो-चार पंक्तियाँ पढ़ता है अथवा दो-एक संवादात्मक स्थलों का सहारा लेकर निश्चय करता है कि उस कहानी को आरम्भ करे कि नहीं; उससे अभीप्सित अनुरंजन हो सकेगा कि नहीं। इनके अतिरिक्त जो चतुर और प्रवीण कहानी-प्रेमी है वह केवल शीर्षक की ओर ध्यान देगा।

या तो वह शीर्षक की आकर्षकता के आग्रह से आकृष्ट होगा अथवा उसकी सहायता से अनुमान लगाएगा कि रचना की गति क्या हो सकती है और उसी अनुमान-परिणाम के आधार पर वह या तो कहानी पढ़ेगा अथवा छोड़ देगा। इस प्रकार के पाठकों के लिए शीर्षक का विशेष महत्व होता है। उत्तम कोटि के शीर्षक से पाठक के अनुमान, कल्पना और भावप्रवणता को उत्तेजन प्राप्त होता है।

शीर्षक में आकर्षण

अंगरेजी के कई समीक्षकों ने एक स्वर से बैरेट्[1] (Barret) के एक वाक्य को उद्धृत किया है। उसमें शीर्षक-विषयक सिद्धान्त का थोड़े में अच्छा विधान उपस्थित किया गया है। उसके सारगर्भ-कथन के अनुसार उपयुक्त शीर्षक वही कहलाएगा जो 'विषयानुकूल, निश्चयबोधक, आकर्षक, नवीन एवं लघु हो—।' ऐसा कहकर लेखक ने शीर्षक के प्रायः सभी आवश्यक गुण-धर्मों का उल्लेख कर दिया है। शीर्षक से कहानी के विषय की विज्ञप्ति तो हो ही जाती है साथ ही उसकी ओर आकर्षण बढ़े ऐसी भी आकांक्षा होनी चाहिए। कभी-कभी कृतिकार की ऐसी भी अभिलाषा प्रकट होती है कि विषय का संकेत मिले चाहे न मिले, आकर्षण अवश्य उत्पन्न हो जाय। इसलिए वह शीर्षक को नितान्त रंगीन और कुतूहल-वर्धक बना देता है। 'The Girl Who Was' अथवा 'The Garden Behind the Moon' ऐसे शीर्षकों से असामान्यता और विस्मय की पूरी स्थापना हो जाती है। विस्मय से प्रेरित होकर ही अध्येता कहानी पढ़ चलता है। इस प्रकार के शीर्षकों का एक मात्र यही उद्देश्य होता है कि कुतूहल की वृत्ति को उभाड़े और क्षणिक एवं बौद्धिक विस्मय में पाठक को डाल दे। हिंदी में भी इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसे सुन्दर शीर्षकों में

1. "A good title is apt specific attractive new and short."
—*Charles Barret : Short Story Writing, pp* 67.

'उसने कहा था', 'कोठरी की बात', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'बैगन का पौधा', 'कुत्ते का नाखून', 'टूटी सुराही', 'वह हंसी थी', 'अन्तःपुर का आरम्भ', 'अजन्ता का भिखारी' इत्यादि हैं। इनसे कल्पनामयी भावुकता को अवश्य ही स्फूर्ति प्राप्त होती है और विषय की ओर अग्रसर होने का सहज निमन्त्रण मिल जाता है।

शीर्षक का दूसरा प्रधान धर्म होना चाहिए प्रतिपाद्य-बोधकता। किसी रचना के माध्यम से विचार, भाव, तथ्य अथवा सार की जो सामूहिक ध्वनि निकलती हो उसका

प्रतिपाद्य-बोधकता

संदेशवाहक शीर्षक को होना चाहिए; इसी में उसकी पूरी सार्थकता निहित रहती है। तात्पर्य-विधायक ये शीर्षक नाना प्रकार के रूप ग्रहण कर सकते हैं। व्यक्ति का विधान करनेवाले अथवा चरित्रप्रधान शीर्षक जैसे—'सुजान भगत', 'शान्ति', 'मधुवा', 'ऐक्ट्रेस', 'नूरी', 'गुंडा', 'सालवती', 'सलीम' इत्यादि। इन शीर्षकों से इस बात की स्पष्ट संभावना मालूम पड़ जाती है कि इन नामों के व्यक्ति कहानी में प्रधानतः विचारणीय हैं अथवा इनके स्वभाव, चरित्र और क्रियाकलाप से कुछ मर्म की बात निकलती है जिसे कृतिकार अध्ययन का विषय बनाना चाहता है। इसी प्रकार यदि रचना में कोई घटना अथवा परिस्थिति उभाड़ कर ऐसी दिखाई गई हो जिससे मानव-अन्तःकरण की कुछ प्रभावशाली लीला देखने को मिल सके अथवा जीवन और जगत् का कोई प्रेरक स्वरूप सामने लाया जा सके तो कहानी का शीर्षक भी घटना का निर्देशक अथवा परिस्थिति विशेष का बोधक ही रखना अनिवार्य हो जाता है। इसमें प्रतिपाद्य का आधार घटना को होना चाहिए अथवा घटना को किसी कौशल से केन्द्रिय वस्तु बनाना चाहिए। घटना अथवा कार्य का निर्देश करनेवाले शीर्षकों का व्यवहार प्रायः सभी उत्तम लेखकों ने किया है, जैसे—'अग्निसमाधि', सोहाग का शव', 'मन्त्र', 'बेड़ी', 'आँधी' इत्यादि कहानियों में इस कथन की सत्यता देखी जा सकती है।

प्रसाद जी ऐसे श्रेष्ठ लेखक जो भाव-प्रधान कहानियों के लिखने में बड़े पटु माने जाते हैं, उनमें भावात्मक शीर्षक अधिक मिलते हैं।

भावात्मक शीर्षक

अधिकतर उनकी कहानियाँ अन्तर्मनोवृत्ति-निरूपक दिखाई पड़ती है। प्रतिपाद्य-अन्तर्वृत्ति के अनुरूप ही बाह्य वातावरण भी चित्रित किया जाता है। इसीलिए कहानी की सामूहिकता किसी न किसी प्रकार के भाव को जगाती मिलती है। ऐसी कहानियों में विषय के अनुरूप या तो प्रतिपाद्य को ध्वनित करता हुआ भावात्मक शीर्षक हो या उसी भाव की ध्वनि वहन करनेवाला कोई कल्पना-प्रधान शीर्षक हो। प्रसाद की कहानी 'व्रत भंग', 'प्रणय चिह्न', 'समुद्र संतरण' और 'ममता' में ये विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। इसी तरह अन्य श्रेष्ठ लेखकों ने भी इस प्रकार के शीर्षक दिए हैं—'अवलंब', 'अवशेष', 'प्रायश्चित', 'अपत्नीक', 'अन्तर्द्वन्द्व' आदि शीर्षक इसी कोटि में आएँगे। इस प्रकार के जितने भी शीर्षक होंगे उनका मेल इतिवृत्तात्मक अथवा चरित्र-निर्देशक शीर्षकों से नहीं बैठ सकता।

इस वर्ग के अतिरिक्त कुछ शीर्षक ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार के तथ्योद्घाटन की ओर संकेत होता है

तथ्योद्बोधक शीर्षक

अथवा कहानी के अन्त में आकर विषय की अन्विति किसी न किसी आधारिक सत्य से संलग्न दिखाई पड़ती है। प्रेमचन्द की कहानी 'आत्मसंगीत' और जैनेन्द्रकुमार की रचना 'बाहुबली' में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियाँ काव्य-तत्व से भरी-पूरी होने पर भी मूलतः तथ्योद्घाटन की ओर ही प्रवृत्त रहती हैं। उनके शीर्षकों से यह बात झलकती रहती है। तथ्य-निर्देशक इस प्रकार के शीर्षकों में प्रायः एक प्रकार का सीधापन मिलता है। अन्यापदेशिक कहानियाँ भी प्रायः इसी कोटि में रखी जायँगी। इनके शीर्षकों में भी जीवन-दर्शन का कोई एक पक्ष प्रतिबिम्बित रहता है। शीर्षक प्रतिपाद्य तथ्य का उद्घाटक अथवा परिचयदाता होता

है। सामान्यतः इस प्रकार की कहानियाँ किसी भी भाषा में कम होंगी क्योंकि कथात्मक साहित्य के लिए यह शैली अधिक उपयुक्त नहीं होती। इसमें एक प्रकार की दार्शनिकता उभड़ उठती है।

इतिवृत्तात्मक कहानियों के शीर्षक समझने में अत्यन्त सरल होते हैं। ऐसी कहानी में कथा-पक्ष अत्यधिक मुखर रहता है। इनमें कथा के

इतिवृत्तात्मक शीर्षक

माध्यम से ही अभीप्सित व्यंग स्फटित होता है अथवा उस कथा के प्रसार के भीतर ही कहीं-किसी जीवन-दर्शन या तथ्य को उभाड़ मिल जाता है। इसमें कहानी का कलात्मक अंश, वस्तु और उसके विन्यास में ही गुम्फित रहता है; इसलिए कथांश के सर्वथा अनुरूप अथवा उसी के आधार पर शीर्षक की स्थापना की जाती है। इसी वर्ग के अन्तर्गत वर्णनात्मक शीर्षक भी आएँगे। इसका कारण यही समझना चाहिए कि कहानी में या तो किसी इतिवृत्त का आधार लेकर अथवा किसी विषय या व्यापार का वर्णन करके इष्ट की सिद्धि की जाती है। प्रसाद की कहानी 'इन्द्र-जाल', 'आँधी' और 'छोटा जादूगर' में इस प्रकार की विशेषताएँ मिलेंगी। वर्णन का सौन्दर्य और उसके भीतर से उत्पन्न होनेवाले किसी कोमल भाव का दिव्य रूप यदि देखना हो तो प्रेमचन्द की कहानी 'ईदगाह' में देखा जा सकता है। इस रूप से शीर्षक वर्ण-नात्मक भी हो सकते हैं। जिन कहानियों में वर्णन की प्रधानता हो उसमें उसी क्रम के शीर्षक उचित होंगे।

प्रायः ऐसा भी दिखाई पड़ेगा कि कुटुम्ब के अंतर्गत आनेवाले विशेष सम्बन्धों को लेकर कहानीकार शीर्षक निर्दिष्ट कर देता

सम्बन्धवाची शीर्षक

है। ऐसी कहानियों में किसी प्रकार के कौटुम्बिक सम्बन्ध अथवा उसके किसी भाव की विवृति इस ढंग से उपस्थित की जाती है कि विशेष प्रभावात्मक संवेदनशीलता निखर जाती है। सम्बन्धवाची सूक्ष्म भावनाओं अथवा उनकी विविध भंगिमाओं का

ही चित्रण इन कहानियों में विशेषतः दिखाई पड़ेगा। हिन्दी में इस पद्धति की अनेक कहानियाँ श्रेष्ठ लेखकों ने लिखीं है, जैसे—'ताई', 'काकी', 'जीजा जी', 'बहन', 'भाई-बहन', 'भाई-भाई'। इसी तरह कुछ लोगों ने केवल काल-विस्तार को ही लेकर शीर्षक निर्दिष्ट किए हैं। उसमें तात्पर्य यह ध्वनित रहता है कि निर्दिष्ट समय की अवधि के भीतर कुछ संवेदनशील स्थिति उत्पन्न हो गई है। इसलिए वह परिमित काल-विस्तार ही महत्वपूर्ण और प्रभाववाही हो गया है। ऐसे शीर्षकों को वहन करनेवाली सफल कहानियाँ भी हिन्दी में अच्छी लिखी मिलेंगी, जैसे—'पाँच मिनट', 'एक घण्टे में', 'चार दिन' और 'एक सप्ताह'।

सिद्धान्त-पक्ष

किसी शीर्षक के चुनाव का विचार करते समय दो मुख्य सिद्धान्तों की ओर ध्यान रहना आवश्यक है। शीर्षक से जिस प्रकार के भी तात्पर्य का बोध होता है, उसका किसी न किसी रूप में कहानी के अंश विशेष से सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। कहानी-रचना की प्रेरणा जिस भावना अथवा विचार से हुई हो उस प्रेरक भाव के साथ शीर्षक का मेल बैठना ही चाहिए। ऐसा मेल चरित्र और घटना-प्रधान कहानियों में बहुत स्थूल, प्रत्यक्ष और सीधा होता है। 'मधुआ' और 'सुजान भगत' अथवा इसी प्रकार की अन्य कहानियों में शीर्षक देखकर ही संकेत मिल जाता है कि इन मुख्य पात्रों के चरित्र अथवा उनके जीवन की किसी स्थिति को लेकर कोई मर्म की बात कहानी में कही गई है। 'गुंडा' और 'सालवती' शीर्षक को पाकर ही यह प्रकट हो जाता है कि उनके व्यक्तित्व अथवा चरित्र की किसी विशिष्टता को लेकर ही रचना में किसी रूप की संवेदनशीलता जगाई गई है। इस प्रकार इन वर्गों की कहानियों में शीर्षक और प्रेरक भाव का घनिष्ट योग बैठ जाता है। इन शीर्षकों में किसी प्रकार का कलात्मक आवरण न होने के कारण सामान्य पाठकों के लिये अनुकूल होता है। भिन्न प्रकार की स्थिति उन

शीर्षकों की होती है, जिनका सम्बन्ध कहानी के मूल-भाव से बहुत खुला हुआ अथवा सीधा नहीं होता। जहाँ चरित्र की किसी अंतरतम वृत्ति का संकेत देनेवाला अथवा किसी तथ्य की गूढ़ व्यंजना से संबद्ध शीर्षक होता है, वहाँ थोड़ा कल्पना और भावुकता के आधार से सम्बन्ध-योजना निर्दिष्ट करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में ये शीर्षक अधिक कलात्मक और सौष्ठवपूर्ण मालूम पड़ते हैं। इस प्रकार के शीर्षक का सर्वोत्तम उदाहरण 'आकाश दीप', 'बिसाती' इत्यादि कहानियाँ हैं।

दूसरी विचार करने की महत्वपूर्ण बात होती है, शीर्षक और कहानी का अन्योन्य सम्बन्ध। कहानी के प्रतिपाद्य पक्ष के अनुरूप ही शीर्षक का होना चाहिए और शीर्षक के अनुसार ही वस्तु का प्रसार होना चाहिए।[1] शीर्षक में यदि कोई चमत्कार नहीं है, अथवा भावात्मक कुतूहल की कल्पना नहीं उभड़ती तो फिर कहानी के भीतर दिखाई गई कोई कलात्मक सूक्ष्मता भी नहीं आ सकती। यदि शीर्षक बहुत कल्पनापरक लगाया जाय और कहानी का विषय प्रसार हो प्रेमचन्द की कहानी 'शांति' अथवा 'सुजान-भगत' की तरह, तब या तो शीर्षक निरर्थक हो जायगा अथवा वस्तुव्यंजना अशोभन हो उठेगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार का शीर्षक हो, उससे मेल खाती हुई वस्तु और उसकी विवृत्ति हो। इन दोनों तत्वों के सुन्दर सामंजस्य से ही कहानी की सामूहिकता सजीवता ग्रहण कर सकती है।

शीर्षक देने में कुछ बातों का विचार रखना आवश्यक है। यदि किसी प्रकार का बनावटीपन उससे झलकेगा तो शीर्षक के

---

1. "While a good title is essential, it is a great mistake to have a startling or sensational title followed by a quiet little charachter sketch. Keep the title in its proper proportion to the nature and interest of the story."
—*Maconochie, D: The Craft of the Short Story* (1936), *pp.* 25.

निर्जीव हो जाने की आशंका होगी। रचना के क्षेत्र में आनेवाले नए लेखक प्राय: समस्त कहानी का सारांश निकाल कर शीर्षक में में निहित कर देने की चेष्टा करते हैं। इससे तात्पर्य-बोध भले ही हो जाता हो लेकिन कुतूहल तत्व मूर्च्छित हो जाता है। इसी तरह कहानी का वर्ग-संकेत दे देनेवाला शीर्षक भी सौन्दर्य-विहीन मालूम पड़ता है। 'काश्मीर की कहानियाँ' या 'शिकार की कहानियाँ'— ऐसा स्पष्ट संकेत यदि शीर्षक में आ गया तो बात के बहुत साफ हो जाने से संभव है शीर्षक में आकर्षण का अभाव हो जाय। कुछ लोग जो शीर्षकों में अखबारी ढंग से विशेषण लगाते हैं, उससे भी हल्कापन ही व्यंजित होता है, जैसे—'लोमहर्षक दृश्य' अथवा 'आश्चर्यजनक घटना।' कहानी में आए हुए विवरणात्मक इतिवृत्त को लेकर शीर्षक देना भी नीरस होता है, जैसे अंग्रेजी की कहानी का शीर्षक है What Happend in a Day अथवा One Summer at Podune इस प्रकार के शीर्षक आरम्भिक काल का संकेत देते हैं। हिन्दी में भी 'राजा भोज का सपना' और 'आपत्तियों का पर्वत' इसी प्रकार के शीर्षक हैं। किसी कहानी का जिस रूप में अन्त हुआ हो उसका संकेत यदि शीर्षक में रखा जाय तो पाठक की सारी रोचकता नष्ट हो जाती है; इसलिए इस प्रकार के शीर्षक को भी वर्ज्य मानना चाहिए। कुछ लेखकों में सानुप्रासिकता का आग्रह भी दिखाई पड़ता है, परन्तु इस प्रकार के शीर्षकों में बनावटीपन बहुत नग्न रूप में उतर आता है, जैसे—'सावनी समा', 'मिलन-मंदिर', 'मिलन मुहूर्त' इत्यादि।

कहानी के शीर्षकों की विवेचना इस आधार पर भी की जा सकती है कि उसके शीर्षक कितने शब्दोंवाले हैं। कहीं एक शब्द का शीर्षक दिखाई पड़ता है और कहीं अनेक शब्दों के लम्बे-लम्बे शीर्षक लिए जाते हैं। इस छोटाई और बड़ाई अथवा संक्षेप और विस्तार को लेकर चलने में जहाँ एक अनुकूल पक्ष है, वहाँ एक प्रतिकूल पक्ष भी है। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि विषय के निराकरण

और विवेचना की यह पद्धति नितांत स्थूल है। इसमें कला-विवेचना के लिए कोई विशेष मसाला नहीं है। न तो इसमें शीर्षक और कहानी के मूलभाव की सम्बन्ध-योजना की ओर दृष्टि रहती और न यही देखने का अवसर रहता कि शीर्षक कहानी के तात्पर्यार्थ का संदेश कहाँ तक वहन कर सका है। ऐसी स्थिति में केवल 'शीर्षक' कितने शब्दों का है इसी को लेकर वर्गीकरण करना विवेचना के विचार से बहुत मोटा काम है; इसमें किसी प्रकार सूक्ष्मेक्षिका के लिए स्थान नहीं है।

अब यदि प्रश्न की अनुकूलता का विचार किया जाय तो इस प्रकार के वर्गीकरण के भीतर रचना-विधान से सम्बन्ध रखनेवाला एक तथ्य या रहस्य सामनें आ जायगा। इस प्रकार के शीर्षक-विभाजन से यह सरलता से समझा जा सकता है कि कृतिकार में कहानी के सामूहिक प्रभाव को कितनें कम अथवा अधिक शब्दों में समेटनें की क्षमता है। जो लेखक ध्वनि और अनुमान का आधार लेकर कम से कम शब्दोंवाला शीर्षक प्रयुक्त करते हैं, वे कुछ खतरे का सामना तो अवश्य करते हैं, इसलिए उन्हें श्रेय अधिक मिलना चाहिइ। ऐसे शीर्षक या तो बहुत सीधे और सरल होंगे अथवा ध्वनिवहन करनेवाले होने के नाते बहुत सूक्ष्म और कलापूर्ण माने जायंगे। 'खूनी', 'कफन', 'डाची', 'चाँदनी' इत्यादि में नाना प्रकार के अनुमान आरोपित करने के अनेक अवसर हैं। पर 'मुंसिफ साहब की मरम्मत' अथवा 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' में अनुमान के प्रसार की एक स्थिर भूमि सामने आ जाती है।

१. भाव और व्यक्ति का संकेत देनेवाले एक शब्द के शीर्षक—

'शरणागत', 'परदेशी', 'आत्माराम', 'गुँडा', 'सलीम', 'चांदनी', 'भुनगा', 'डाची', 'पुरस्कार' इत्यादि।

विशेषण से संयुक्त दो शब्दोंवाले शीर्षक—

'आंसुओं की होली', 'पिसनहारी का कुआँ', 'सुहाग का शव', 'कहानी का प्लाट', 'जवानी के दिन', 'शतरंज के

खिलाड़ी', 'दो दिन की दुनिया', 'अंतपुर का आरम्भ', 'कानों में कंगना', 'कवि की स्त्री', 'कल्पनाओं का राजा', 'कदंब के फूल', 'एथेंस का सत्यार्थी' इत्यादि।

३. इतिवृत्त का संकेत वहन करनेवाले अनेक शब्दों के शीर्षक—

'दुखवा मैं कासे कहों मोरी सजनी', 'मुंसिब साहब की मरम्मत', 'सारी रंग डाली लाल लाल', 'सूली ऊपर सेज पिया की', 'चैत की निंदिया जिया अलसाने', 'घोड़े पर हौदा और हाथी पर जीन', इत्यादि।

वर्गीकरण

कहानी के वर्गीकरण के विषय में अंग्रेजी के लेखक कुछ उदासीन से हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस विषय का अलग से विचार नहीं किया है, यों तो उनकी सामूहिक विवेचना से संभावित भेद-प्रभेदों का आभास मिल जाता है, पर किन सिद्धान्तों पर कहानी का वर्गीकरण करना चाहिए इसका सामान्यतः कोई स्वतंत्र विवेचन उन ग्रंथों[1] में नहीं हुआ है। इससे अवश्य ही एक बात लक्षित होती है कि इन लेखकों ने कहानी के सामूहिक प्रभाव और उसकी प्रकृति में ही भेदक तत्व की स्थापना कर ली है। जिन कहानियों से जैसा प्रभाव उत्पन्न होता है उसी के अनुसार कहानियों का वर्ग बोध होना चाहिए—ऐसा उनका मन्तव्य मालूम होता है। किसी कहानी से जैसा तात्पर्यार्थ निकलता है, वह स्वयं में इस बात का संकेत कर देता है कि वह कहानी किस वर्ग में रखी जाय। संभवतः इन लेखकों की दृष्टि में वर्गीकरण की सारी भित्ति ही स्थूल और मोटी है और वे इसलिए विवेचना की कोई कला उसमें नहीं मानते।

उपादेयता

---

१. (क) *Albright, E. M. : The Short Story, Its Principles and Structure.*

(ख) *Pitkin, W. B. : The Art and the Business of Story-Writing.*

सामान्यतः सभी भाषाओं में लिखी कहानियों का विचारपूर्वक यदि हिसाब-किताब किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि वर्गीकरण—किसी न किसी आधार पर—होना आवश्यक है, क्योंकि रचना-शैली की दृष्टि से तो भेद मिलता ही है, विषयगत भेदकता भी दिखाई पड़ती है। मुख्यतः इन दो दृष्टियों से विषय की विवेचना अपेक्षित है, इसके बिना सूक्ष्म विवेचना का आग्रह पूर्ण नहीं होता।

अधिकांश कहानियाँ—सभी भाषाओं में उस पद्धति पर लिखी जाती हैं, जिसे इतिहास की शैली कहा जा सकता है। इसमें लेखक विषय को उस रूप में उपस्थित करता है

इतिहास-शैली

जिस रूप में इतिहास लेखक। वह अपने कथा-प्रसार की सारी सामग्री को जानता है, अपने सब पात्रों से परिचित रहता है और उनके जीवन के संपूर्ण उतार-चढ़ाव का विवरण उसे प्राप्त रहता है। अपने इस संचित ज्ञान को वह संसार की परितृप्ति के लिए इस प्रकार उपस्थित करता है कि सारा इतिवृत्त रसमय हो उठता है। ऐसी कृतियों में रचनाकार व्यक्ति और उसके समस्त ज्ञातव्य इतिवृत्त को उसी रूप में उपस्थित करता है जैसे इतिहासकार अपने ऐतिहासिक पात्र को सामने लाता है और अपने को पृथक् रखकर तृतीय वचन का प्रयोग करता है। हिन्दी की अधिकांश प्रसिद्ध कहानियाँ इसी ऐतिहासिक शैली में लिखी गई मिलेंगी, जैसे—'गुण्डा', 'परदेशी', 'ताई', विधवा', 'उसने कहा था', 'कफन', 'आत्माराम', 'गहूला', 'बिसाती', 'सालवती', 'नूरी', 'सलीम', 'ऐक्ट्रेस', 'सुजान-भगत', 'शांति', 'गूंगी', 'उसकी माँ', 'अवलंब', 'गेंदा', 'प्यासी हूँ', इत्यादि। इनमें और इसी वर्ग की अन्य कहानियों में सर्वज्ञाता लेखक संपूर्ण इतिवृत्त को इस ढंग से सामने रखता मिलेगा कि कथाभाग पूवा-पूरा समझ में आ जाय और उसके द्वारा ध्वनित होने वाला अभिप्राय भी कुछ स्पष्ट हो जाय। रचना की इस ऐतिहासिक प्रणाली को अन्य-पुरुषवाची भी कहा जा सकत

है। आश्चर्य-वृतांत अथवा कुतूहल-प्रधान कहानियाँ इस शैली में अधिकांशत लिखी जाती हैं; यों तो अन्य सभी कोटि के रचनाकार भी इस सीधी-सरल शैली को स्वीकार करते हैं।

इससे अधिक मनोरंजक और साथ ही अधिक कलापूर्ण आत्म-चरितात्मक शैली होती है। इस शैली की प्रकृति के अनुसार, विषय, प्रथम पुरुष के माध्यम से उपस्थित होता है। उसमें बात इस ढंग से कही जाती है जैसे कोई अपना परिचय स्वयं दे रहा हो अथवा अपने जीवन से संबद्ध घटनाएँ और स्मृतियाँ स्वयं किसी से कह रहा हो। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं के उद्घाटन-प्रकाशन के लिए यह प्रणाली अधिक उपयुक्त होती है। साथ ही प्रथम पुरुष का प्रयोग करने से प्रतिपाद्य का प्रभाव बलवत्तर और अधिक संवेदनशील हो जाता है। इसमें पात्र के साथ अध्येता या पाठक के अन्तःकरण का सीधा संबंध स्थापित हो जाता है इसलिए आत्मीयता का आभोग अधिक स्वस्थ होता है। ऐतिहा-सिक शैली की अपेक्षा इस शैली की कहानियाँ कम लिखी जाती है। इसका कारण प्रथम पुरुष की परिमिति है। अन्य पुरुष में जिस स्वच्छन्दता से बात बढ़ाई जा सकती है अथवा आलोचना और परिचय प्रस्तुत किया जा सकता है उतना प्रथम पुरुष के प्रयोग में नहीं। साथही इसकी संबंध-योजना को गुंफित करने में कुछ विशेष कौशल अपेक्षित होता है। इस आत्म-कथात्मक शैली का रूप **'चित्रवाले पत्थर', 'वह प्रतिमा', 'कानों में कंगना', 'दर्शन', 'खूनी', 'अपत्नीक'** इत्यादि कहानियों में देखा जा सकता है।

आत्मचरितात्मक शैली

उक्त दोनों पद्धतियों से सर्वथा भिन्न कहानी-रचना की पत्रात्मक शैली होती है। इसमें एक, दो या अधिक पात्र; इस रूप में कथा का आरम्भ, विकास और अन्त करते हैं कि सारा विषय पत्रों के माध्यम से उप-स्थित होता है। दो मित्र कहीं सुदूर स्थानों में बैठे हुए आपस में इस प्रकार पत्र-व्यवहार या पत्रालाप करते हैं कि कोई कथा खड़ी हो जाती है, अथवा उनकी अनुभूतियाँ और मंतव्य

पत्र-शैली

इस रूप में सामने आते हैं कि सारा विवरण सुसंबद्ध हो जाता है। यदि रचनात्मक कला का विचार किया जाय तो इस शैली पर लिखी गई कहानियाँ अधिक मनोरंजक होती हैं। प्रथमपुरुषवाची शैली की तुलना में इसमें रचनात्मक चातुरी अधिक अपेक्षित होती है, क्योंकि कथांश का प्रसार कुछ अधिक खंडांशों में विभाजित होने के कारण इसमें जोड़-तोड़ का कौशल कुछ अधिक दिखाना पड़ता है। यही कारण है कि इस शैली को अधिक नहीं अपनाया गया; यों तो इस ढंग की कुछ अच्छी कहानियाँ हिन्दी में लिखी गई हैं। **प्रेमचन्द** की प्रसिद्ध कहानी **'दो सखियाँ'**, **प्रसाद** की **'देवदासी'**, **विनोदशंकर व्यास** की **'अपराध'** और **चंद्रगुप्त विद्यालंकार** की **'एक सप्ताह'** कहानियाँ इस वर्ग के अन्तर्गत आएँगी। इस शैली का एक स्वरूप वह भी हो सकता है, जिसे डायरी-पद्धति कहा जा सकता है। इस पद्धति का कथानक इस ढंग से लिखा जाता है कि मालूम होता है जैसे नित्य रोजनामचा लिखनेवाला कोई भावुक व्यक्ति अपने जीवन की कुछ दैनिक घटनाएँ अथवा अनुभूतियाँ सामने रख रहा है।

आन्यापदेशिक शैली

शैलीगत वर्गीकरण के भीतर ऐसी कहानियाँ भी आती हैं जिनसे किसी प्रकार के व्यंग्यार्थ की सिद्धि होती हो। भले ही इस प्रकार की कहानियाँ संख्या में कम हों पर इन व्यंग्य-प्रधान रचनाओं में एक विशेष प्रकार का चमत्कार रहता है। इन कहानियों से एक ऐसे व्यंग्यार्थ की सिद्धि होती रहती है जो सब प्रकार से इतिवृत्तात्मक होते हुए भी अपने में स्वयं इष्ट बन जाती है। कहानी में कुछ कथांश भले ही हो पर पाठक का सारा ध्यान उसी प्रतिपाद्य व्यंग्य की ओर लगा रहता है। इसे रचना की एक शैली माननी चाहिए, विषय नहीं। इसमें बात इस ढंग से कही जाती है कि कहानी के अन्य विभिन्न तत्व नगण्य हो उठते हैं, केवल तात्पर्यार्थ ही चारों तरफ भर उठता है। इस शैली में

सांकेतिक, प्रतीकात्मक और आन्यापदेशिक कहानियाँ बड़ी सुन्दर लिखी जा चुकी हैं। यदि इनका कुछ व्यावहारिक स्वरूप देखना हो तो **अज्ञेय** की कहानी **'शत्रु', प्रेमचन्दजी** की **'दो बैलों की कथा', पांडेय बेचन शर्मा** की **'भुनगा', प्रसाद** की **'कला', 'पत्थर की पुकार'** और **'प्रलय की छाया'** कहानियों में देखा जा सकता है।

कहानियों के वर्गीकरण का जो दूसरा दृष्टिकोण है, उसमें कहानी के विषय का ही अधिक विचार मिलेगा। यह विषय दो प्रकार का हो सकता है—कहानी का प्रतिपाद्य-विषय और कथा का प्रसार करनेवाला विषय। प्रतिपाद्य पक्ष को लेकर चलने में विषय या तो भावात्मक होगा या चरित्र-प्रधान। इन दोनों के अतिरिक्त वह शुद्ध तथ्यप्रधान भी हो सकता है।

भाव की प्रधानता

भावप्रधान कहानियों में कथांश उतना ही पाया जाता है जितना कि भाव और वृत्ति के निरूपण में नितान्त आवश्यक हो। वहाँ कृतिकार और अध्येता का ध्यान भाव की गहराई की ओर रहता है; कथांश तो नितान्त क्षीण आवरण मात्र बनकर पड़ा रह जाता है। **'प्रसाद'** की कहानियों **'बिसाती'** और **'समुद्र-संतरण'** में अथवा **प्रेमचन्द** की कहानी **'आत्मसंगीत'** में इसका अच्छा रूप देखा जा सकता है। उनमें प्रतिपाद्य के भावचित्रण में ही सौन्दर्य्य है। कथांश नितान्त क्षीण और गौण है। कलाकार की सारी उद्भावना भाव विशेष के निरूपण में ही लगी दिखाई पड़ती है। भावचित्रण अवश्य ही किसी न किसी व्यक्ति और पात्र के माध्यम से होता है परन्तु चरित्र की प्रधानता फिर भी इससे भिन्न वस्तु होती है।

चरित्र की प्रधानता

चरित्र-प्रधान कहानियों में व्यक्ति-विशेष का शील-वैलक्षण्य क्रमशः इस प्रकार उद्घाटित किया जाता है कि उसकी सब कड़ियाँ स्पष्ट झलक उठें। इस वर्ग की कहानियों में कथा-भाग का कुछ अधिक विस्तार आवश्यक होता है। जीवन की विविध परिस्थितियों के भीतर पड़ा हुआ व्यक्ति इस प्रकार से अपने कर्म, आचरण और विचार व्यक्त करता है कि उसका चारित्रिक गठन

और मनोबल प्रभावशाली रूप धारण कर लेता है। ऐसी कहानियों में इतिवृत्त की प्रधानता नहीं माननी चाहिए, क्योंकि पात्र स्वयं अपने चरित्र से परिस्थितियों और घटनाओं को बनाता-बिगाड़ता चलता है। इन बनने और बिगड़नेवाली परिस्थितियों और घटनाओं में कथातत्व भले ही प्रबल पड़ता दिखाई पड़े लेकिन रहता है वह चरित्र की प्रभाव-सीमा के भीतर ही। चरित्र में जैसे-जैसे मोड़ आते-जाते हैं, कथा की सारी गतिविधि उसी प्रकार मुड़ती चलती है और अन्त में आकर प्रभाव-समष्टि चरित्र के आधार ही पर खड़ी होती है। किसी भी भाषा में चरित्र-प्रधान कहानियों के बड़े सुन्दर रूप मिलते हैं। हिन्दी की अत्यधिक प्रसिद्ध कहानियाँ चरित्र प्रधान ही हैं। **प्रेमचन्द** की कहानी **'सुजान-भगत'** और **'बड़े भाई साहब'** **प्रसाद** की **'गुण्डा'**, **'सलीम'** और **'सालवती'**, **विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'** की **'ताई'**, **गुलेरीजी** की **'उसने कहा था'** कहानियाँ इसी वर्ग में आएँगी।

इनके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि कहानी का मूलभाव या केन्द्र-बिन्दु न तो कोई भाव ही बनाया गया हो और न चरित्रांकन में ही कोई आकर्षण या सौन्दर्य दिखाई पड़े।

व्यंग-प्रधान

महत्व की वस्तु केवल वह तथ्य हो जिससे सम्पूर्ण कहानी में व्यंग्यात्मकता का बोध होता मालूम पड़े। जितनी भी सांकेतिक या प्रतीकात्मक कहानियाँ होंगी वे सब इसके अन्तर्गत आ सकती हैं। **अन्नपूर्णानन्द** की कहानी **'अकबरी लोटा'** से व्यंग्य होनेवाला जो तथ्य है, वही कहानी में प्रधान वस्तु है, कोई पात्र या उसके जीवन की परिस्थितियाँ नहीं। **अज्ञेय** की कहानी **'शत्रु'** से ध्वनित होनेवाला जो अर्थ है, वही रचना में मूल वस्तु है। इसी प्रकार **यशपाल** की **'कुत्ते की पूँछ'**, **प्रेमचन्द** की **'दो बैलों की कथा'**, **पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'** की **'भुनगा'** इत्यादि कहानियों में भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार

शैलीगत व्यंग्य और विषयगत व्यंग्य में मूलतः बात एक ही हो जाती है ।

इतिवृत्त-प्रधान

कथा के विषय को लेकर चलनेवाला जो वर्ग-विभाजन है, वह बहुत स्थूल और मोटा है । आश्चर्य-वृत्तान्त, जासूसी और उपदेश-प्रधान कहानियाँ इसी के अन्तर्गत आएँगी; क्योंकि उन सब में कथा का विस्तार-क्रम ही मनोरंजन का विषय बनता है । यहाँ कथानक कुछ इस क्रम से सजाया जाता है कि या तो निरन्तर आश्चर्य उद्दीप्त होता रहेगा या घटना के क्रम से तीव्र कुतूहल प्रकट होता रहेगा । अथवा कथा की गति इस पद्धति से आगे बढ़ेगी कि किसी प्रकार के उपदेश की सिद्धि हो जाय । आश्चर्यमय और जासूसी वृत्तान्तों का प्रयोग कहानियों में तो अधिक मिलेगा ही पर उपदेश-प्रधान कहानियों की भी कमी नहीं है । 'राजा भोज का सपना' और 'आपत्तियों का पर्वत' ऐसी कहानियों के अतिरिक्त जितनी भी संस्कृत और पाली की कहानियाँ हैं, उनमें साधारण रूप से ही इतिवृत्त ऐसे क्रम से सजाया मिलेगा कि अंत में आते-आते किसी उपदेश की सिद्धि हो जाती है । ऐसी कहानियों को शुद्ध इतिवृतात्मक मानना चाहिए ।

यहाँ विचार की एक बात उत्पन्न होती है । पूर्वकथित चरित्र-प्रधान कहानियों में जो कथांश की अधिकता मिलती है उनमें और इस वर्ग की कहानियों में अंतर कहाँ स्थापित हो । इस विषय में भेदकता का विचार इस ढंग से करना चाहिए कि चरित्र-प्रधान कहानियों में व्यक्ति का अपनापन स्वयं कथा का विस्तार कर लेता है और विभिन्न परिस्थितियाँ और घटनाएँ पात्र की अन्तःवृत्ति के द्वारा ही नियंत्रित होती चलती हैं । प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' अथवा 'सालवती' में सारे इतिवृत्त का प्रसार प्रधान पात्र की चारित्रिक भंगिमा के अनुरूप ही विकासोन्मुख हुआ है । इतिवृत्तात्मक कहानियों की

स्थिति इसके विरुद्ध होती है। 'राजा भोज के सपना' में स्थितियाँ जैसे क्रम से बढ़ती गई हैं उसी क्रम से राजा भोज की मनःस्थिति में परिवर्तन होता गया है और अन्त में कथा की समाप्ति के साथ राजा की आँख खुलती है। थोड़े में कहा जा सकता है कि इतिवृत्त-प्रधान कहानियों में मनोरंजन अथवा विचार की बात इतिवृत्त को ही लेकर चलती है। और चरित्र-प्रधान कहानियों में पात्रगत व्यक्तित्वविधायक किसी वैलक्षण्य को।

कहानी का वर्गीकरण एक ढंग से और किया जा सकता है। चरित्र, भाव अथवा तथ्य की प्रधानता तो रचना का एक अंग-विशेष है।

अन्य भद

यदि किसी की अभिरुचि ऐसी दिखाई पड़े तो ऐसा भी संभव है कि वह कहानी की केवल आद्यंत-व्याप्त सामूहिकता और तज्जनित उसके सामान्य प्रभाव-पक्ष को लेकर ही कहानियों में विविध प्रकार की भेदकता उत्पन्न कर दे सकता है। विषयगत विश्लेषण में एक बात दोष की अवश्य रहती है। वहाँ कठोरतापूर्वक यह नहीं घोषित किया जा सकता कि अमुक कहानी मूलतः चरित्र-प्रधान है और अमुक भाव-प्रधान। प्रायः ऐसी स्थिति आ जाती है कि चरित्र के साथ भाव ऐसा सम्मिश्रित मिले कि विवेचना उलझी-सी रह जाय। 'प्रसाद' की 'आकाश दीप' अथवा 'पुरस्कार' में भाव प्रधान है अथवा चरित्र—ऐसा प्रश्न सामने आ सकता है। भाव-द्वन्द्व का विषय 'चंपा' भी है और 'मधूलिका' भी। साथ ही उन पात्रों की व्यक्ति-विधायिनी प्रवृत्तियाँ भी कहानियों में मुखर हो उठी हैं। उनके चारित्रिक मनोबल में एक प्रकार की सुस्थिरता का दिव्य रूप विकसित दिखाई पड़ता है। इसलिए वहाँ भाव और चरित्र का अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित मिलता है। ऐसी परिस्थिति में सहसा निर्णय कर देना है कि इनमें किस पक्ष की प्रबलता है, यह कार्य निर्विवाद नहीं हो सकता।

इसलिए ऐसा हो सकता है कि मोटे रूप में कहानी के सामूहिक प्रभाव को ही लेकर स्थूल विभाजन कर दिया जाय कि कहानी जासूसी है अथवा अय्यारी, ऐतिहासिक है अथवा वातावरण-प्रधान, मनोवैज्ञानिक है अथवा इतिवृत्तात्मक, भाव-प्रधान है अथवा चरित्र-प्रधान, कौटुम्बिक है अथवा सामाजिक, राजनीतिक है अथवा किसी अन्य वाद से अभिभूत। इस प्रकार के वर्गीकरण से कहानी में किस तत्व की प्रधानता है, इसका संकेत नहीं मिल पाता और इस वर्गीकरण के अन्तर्गत नाना प्रकार के भेद-प्रभेदों का अनियन्त्रित अम्बार भी लग जा सकता है। लेकिन सामान्यतः तीन-चार वर्गों में कहानी को विभाजित कर देने से वर्ग का स्थूल अभिप्राय तो व्यक्त हो ही जायगा—सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक इन वर्गों के अन्तर्गत आनेवाली कहानियाँ ही अधिक लिखी जाती हैं।

सामाजिक

कोई कहानी सामाजिक है, ऐसा कहने से इतना तो निश्चित हो जाता है कि संपूर्ण इतिवृत्त का सम्बन्ध उस वस्तुस्थिति से है जो मूलतः व्यापक समाज में फैली है। वह समाज भारतवर्ष का हो सकता है, अमेरिका का अथवा किसी भी देश का हो सकता है। समाज के भीतर व्यक्तिगत जीवन भी आता है और कौटुम्बिक अथवा सामाजिक भी। व्यक्ति और समाज के साथ उसकी संपूर्ण इयत्ता का संयोग होने के कारण जितनी भी उपदेश, धर्म तथा संस्कृति से संबद्ध बातें होंगी वे भी इसके अन्तर्गत आ जाएँगी। इस प्रकार सामाजिक कह देने से बड़ी ही व्यापकता का बोध होगा और विशिष्टता-विधायक कोई बात स्पष्ट होगी नहीं। फिर भी व्यापक वर्गीकरण के विचार से इतना संकेत तो मिल ही जाता है कि इस वर्ग की कहानी में समाज के किसी अंग अथवा रूप का उल्लेख मिल सकता है। प्रेमचन्द की 'शान्ति', 'अग्निसमाधि', 'ऐक्ट्रेस', 'पंच परमेश्वर' इत्यादि अनेकानेक कहानियाँ इस वर्ग के भीतर आएँगी।

यों तो राजनीतिक कही जानेवाली कहानी भी मूलतः समाज का ही अंग है और उनकी विवेचना सामाजिक कहानी के साथ ही होनी चाहिए परन्तु राजनीति का अपना अलग भी क्षेत्र होता है। राजनीतिक कहानी के अन्तर्गत ऐसी भी स्थितियाँ आ जाती हैं, जिसमें विषय और बात किसी एक ही देश, जाति, धर्म अथवा समाज से सम्बद्ध न हो। दो अथवा दो से अधिक देशों और समाज का रूप भी उसके भीतर आ जाय। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की वे कहानियाँ जो 'चिनगारी' में संकलित हैं, अथवा इसी प्रकार की और कहानियाँ शुद्ध राजनीतिक इस अर्थ में कहलाएँगी कि उनका प्रतिपाद्य समाज के अंतराल से उतना नहीं चलता जितना कि राजनीतिक वातावरण और जीवन के किसी दर्शन से सम्बद्ध होता है। देश की अथवा विश्व की राजनीतिक गतिविधि का ही सामूहिक प्रभाव इनसे ध्वनित होगा। समाज के अन्तर्गत उसका नायक उतना नहीं आएगा जितना राजनीतिक रंगमंच पर विचरण करता दिखाई पड़ेगा—विचार करता हुआ, संवाद करता हुआ, और आचरण करता हुआ। ऐसी कहानियों में सारा वातावरण एक प्रकार से राजनीतिक हो जाता है—भले ही प्रच्छन्न रूप में कहीं धर्म और समाज भी झाँकता मिले, पर सामूहिक प्राधान्य राजनीतिक प्रभाव का ही बना रहेगा।

राजनीतिक

आधुनिक युग में आकर कहानियों के क्षेत्र में भी मनोविज्ञान की चरचा बहुत बढ़ गई है। चरित्रांकन से कुछ पृथक् हटकर और पात्र की किसी वृत्ति विशेष को पकड़ कर उसकी विविध भंगिमाओं के सारे उतार-चढ़ाव को दिखाना ही मनोवैज्ञानिक कहानी का मुख्य लक्षण मानना चाहिए। कहानी के अन्य किसी तत्व की ओर न तो ध्यान जाता है और न उसका कोई प्रभाव ही उभड़ पाता है। उनमें केवल मानसिक तर्क-वितर्क और ऊहापोह

मनोवैज्ञानिक

इस ढंग से किया जाता है कि चरित्र के इतिवृत्तात्मक अंश की ओर चित्त कम आकर्षित होता है और सारा मनोरंजन केन्द्रित हो जाता है मनःस्थिति की विवेचना में। इन कहानियों में एकनिष्ठ होकर जब किसी प्रकार की मनोदशा का उद्घाटन कुछ दूर चला जाता है तो एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक वातावरण छा उठता है। इसीलिए वातावरण-प्रधान कहानियाँ मनोवैज्ञानिक कहानियों के साथ सफलता से चल सकती हैं, और बड़े सुन्दर प्रभाव उत्पन्न करती मिलेंगी। 'अवलंब', 'अपत्नीक' इत्यादि कहानियों में इस प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं। प्रेमचंद की कहानी 'ऐक्ट्रेस' और 'आत्मसंगीत' तथा 'प्रसाद' की कहानी 'विजया', 'अघोरी का मोह' और 'गूदड़ सांई' में भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अच्छा अवसर मिलता है।

ऐतिहासिक

इस पद्धति पर चलकर जो एक दूसरा स्थूल वर्ग बड़े महत्व का प्रमाणित होता है, वह है, ऐतिहासिक कहानियों का। ऐतिहासिक शब्द का अभिप्राय यदि व्यापक अर्थ में लिया जाय तो उसके दो रूप हो जाएँगे। इतिहास में आई हुई किसी प्रमुख स्थिति, घटना अथवा व्यक्ति को लेकर जब कुछ मर्म की बात कह दी जाय तब तो यह नितान्त स्पष्ट रहेगा ही कि रचना ऐतिहासिक है। उसमें इतिहास की सभी बातें नियोजित दिखाई पड़ेंगी; परन्तु इसमें घटना और पात्र की प्रमुखता इतनी मुखरित रहेगी कि उसी का प्रभाव कहानी के अन्त में गुंजरित होता रहेगा। इस आधार पर लिखी हुई कहानियों को यदि ठीक से कहें तो इतिहासाश्रित कह सकते हैं। इस वर्ग की रचनाओं में ऐतिहासिक वृत्त का आधार लेकर उसकी कोई प्रमुख घटना और उससे संबद्ध विशिष्ट पात्र इस प्रकार सामने आएगा कि उसका व्यक्तित्व पाठक के चित्त पर छा जायगा। इस शैली से भिन्न इतिहास के ग्रहण की एक दूसरी शैली भी होती है जिसे इतिहासानुमोदित शैली कहा जाना चाहिए।

इसमें वृत्त और पात्र चाहे इतिहास-प्रसिद्ध हों चाहे न हों पर उसमें जो सांस्कृतिक अथवा वातावरण-संबंधी विवरण और वर्णन सामने खड़ा किया जायगा वह सर्वथा इतिहासा-नुमोदित होगा। ऐसी कहानियों में वस्तुतः प्रभाव व्यक्ति और घटना का नहीं पड़ता बल्कि उनमें जो एक विशेष प्रकार का ऐतिहासिक वातावरण गठित होता है, उसी की ध्वनि अन्त में आकर पाठक के मस्तिष्क पर छा उठती है। ऐसी रचनाओं में व्यक्ति और घटना साधन मात्र होते हैं, साध्य होती है ऐतिहासिकता की प्रभावसमष्टि। यदि प्रसाद की 'छाया' में संग्रहीत आरम्भ की ऐतिहासिक कहानियाँ इतिहासाश्रित कहानियों का उदाहरण मानी जायेंगी तो 'आंधी' और 'इन्द्रजाल' संग्रहों की ऐतिहासिक कहानियां इतिहासानुमोदित कही जा सकती हैं। 'सालवती', 'आकाश दीप', 'पुरस्कार', 'गुण्डा' कहानियों में पात्र और घटना को हम भूल जा सकते हैं, पर जिस प्रकार का वातावरण उन कहानियों में उपस्थित किया गया है, उसकी सौंदर्य-विधायिनी छाया चित्त पर बड़ी देर तक छाई रहती है। मूलतः इन्हीं को शुद्ध ऐतिहासिक कहानियाँ मानना चाहिए। सारांश कहने का यह है कि कहीं इतिहास के यथार्थ विवरणों को लेकर ही कहानी लिखी जा सकती है और कहीं केवल इतिहासानुमोदित किसी प्रकार के सामूहिक वातावरण को चित्रित करने में ही कृतिकार की सारी शक्ति लगी मिले। ये दोनों बातें अलग-अलग भी कहानियों का विषय बन सकती हैं और साथ ही दोनों का सामंजस्य-मूलक अथवा एकत्व-विधायक स्वरूप भी खड़ा किया जा सकता है। अवश्य ही प्रथम कोटि की रचना सामान्य कहानीकार भी कर सकेगा पर द्वितीय वर्ग की कृतियाँ केवल प्रौढ़ कलाकार ही उपस्थित कर सकता है।

इस प्रकार थोड़े में यदि विषय को समेटना हो तो कहा जा सकता है कि कहानियों का वर्गीकरण केवल दो पद्धतियों पर हो सकता है—शैलीगत और प्रतिपाद्यगत। प्रथम पद्धति का सम्बन्ध रचना-विधि से होता है इसलिए वह किसी सीमा तक परिमित ही रहेगा पर प्रतिपाद्य-पक्ष को लेकर चलनेवाला वर्ग-विभाजन नाना प्रकार का हो सकता है। अतएव उसका रूप-विस्तार अनियन्त्रित हो उठता है। उसके वर्गीकरण में विचारक स्वतन्त्र रहता है, जिस ढंग को भी चाहे वह स्वीकार करे और जिस स्थूल अथवा सूक्ष्म पद्धति को चाहे अपनाए।

सारांश

———

परिस्थिति-योजना

कहानी-रचना के तत्वों और उपादानों की इतनी विवेचना हो जाने के उपरान्त उन सूक्ष्म तत्वों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है जो वस्तुतः खुलकर तो सामने नहीं आते पर नेपथ्य से कहानी को निरन्तर अनुप्राणित करते रहते हैं और उसके सामूहिक एकत्व को निरन्तर विकसित करते रहते हैं। कथानक के प्रसार और प्रभावान्वित को सजीव बनाते हुए ये सूक्ष्म तत्व अन्य विभिन्न तत्वों को विधिवत् संयोजित करने में योग देते हैं। सर्वप्रथम 'परिस्थिति-योजना' का विचार कर लेना चाहिए। इसका प्रधान उद्देश्य होता है संपूर्ण कथानक के भीतर आई हुई क्रियाओं और परिणामों का तर्कसंगत क्रमन्यास। यथार्थता को कल्पना की सीढ़ियों से ऐसा सजाना चाहिए कि किसी घटना अथवा कर्म के पूर्व की समस्त परिस्थितियाँ कड़ी के रूप में संगठित मालूम पड़ें। पाठक को यह विदित होना चाहिए कि अमुक कार्य के पहले उसके अनुकूल कारण किस रूप में उपस्थित थे। परिस्थितियों की सीढ़ी चढ़कर ही कोई परिणाम-शिखर पर चमत्कृत हो सकता है।

परिस्थिति का सामान्य परिचय

उदाहरण के रूप में यदि 'सुजान भगत' शीर्षक प्रेमचन्द की कहानी को लें तो दिखाई पड़ेगा कि 'लाग मानवजीवन में बड़े महत्व की वस्तु है'—इस बात को कुशल लेखक ने बड़े कौशल से उपस्थित किया है। परन्तु इस महत्वपूर्ण घटना के पूर्व की समस्त परिस्थितियों का विचार कीजिए। अध्यवसाय एवं अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप सुजान भगत के खेतों में सोना उपजता है। ऐसी स्थिति में अपनी वर्गगत प्रकृति के अनुसार जो सामान्य लालसा उसके मन में उठती है, वह तीर्थ, व्रत और पूजापाठ-विषयक होती है। सामान्यत: यही भारतीय किसान का यथार्थ स्वरूप और व्यावहारिक प्रकृति है। उस ओर सुजान की अभिरुचि निरन्तर बढ़ती गई है। आगे चलकर वह साधु-संतों की सेवा और कथावार्ता में इतना तन्मय हो उठता है कि कुटुम्ब का आधिपत्य उसके पुत्र भोला को मिल जाता है, और वह पिता के क्रिया-व्यापारों की टीका-टिप्पणी करने लगता है। एक समय ऐसा आता है कि सुजान के कहने पर भी एक भिखमंगे को मुट्ठी भर अन्न मिलने में बाधा उठ खड़ी होती है। इस घटना से सुजान को ऐसा झटका लगता है कि उसकी आंखें खुल जाती हैं। इसी स्थल पर आकर 'लाग' का भाव उसके भीतर जगता है और वह पुन: अपने खोए हुए आधिपत्य को प्राप्त करने के लिए पूर्व की भांति अथवा उससे भी अधिक श्रम और प्रयत्न में निरत हो उठता है। इस परिणाम-सूचक घटना के पूर्व यदि कुशल लेखक परिस्थिति-योजना का क्रम ठीक से न संकलित करता तो घटना का सारा प्रकृतत्व नष्ट हो जाता और प्रतिपाद्य-पक्ष अविकसित अथवा अस्फुट रह जाता। सुजान के भीतर वह लाग कैसे उत्पन्न हुई? इस जागरण के क्या कारण हैं? इन्हीं बातों को जो एक निर्दिष्ट क्रम और अभिप्राय से सजाया गया उसे परिस्थिति-योजना कहना

परिस्थिति-योजना और 'सुजान भगत'

चाहिए। किसी घटना अथवा परिणाम को सजीव एवं यथार्थ बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक होता है कि तदनुरूप कारण अथवा परिस्थितियाँ प्रस्तुत की जायँ।

परिस्थिति-योजना और 'पुरस्कार'

इसी तरह प्रसाद की प्रसिद्ध कहानी 'पुरस्कार' को लीजिए। उसमें मधूलिका एवं अरुण की प्रेममैत्री स्थापित होने के पूर्व की संपूर्ण परिस्थितियों को विचारपूर्वक देखना-समझना चाहिए। मधूलिका का एकमात्र खेत राज-नियम के कारण छिन जाता है; वह प्रतिष्ठित कुल की निःसहाय युवती अपनी समस्त कोमल भावनाओं को लिए दैन्य एवं करुणा का विषय बन जाती है। ऐसी स्थिति में सहानुभूति और समवेदना का कोमल आधार पाकर उसका तरल हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। निर्वासित राजकुमार अरुण अपने ही समान कष्ट में पड़ी मधूलिका को देख कर आकर्षित होता है और दोनों का योग कहानी के ढांचे में रंग भर देता है। इस मैत्री-भाव की स्थापना के मूल में बैठी मानवीय वृत्तियों एवं स्थितियों को ऐसे ढंग से सजाया गया है कि वह सर्वथा प्रकृत मालूम पड़ सके अन्यथा प्रश्न हो जाता कि कहाँ मधूलिका और कहाँ राजकुमार अरुण। इनमें मैत्री क्यों हुई? आगे चलकर अरुण को प्यार करते हुए भी मधूलिका जो उसको पकड़ा देती है, उस घटना के पूर्व कुशल लेखक ने आभिजात्य से उद्भूत जो उसके मानसिक द्वन्द्व को उत्तम ढंग से चित्रित किया है, वही मूल कारण का संकेत देता है। इसी कारण को लेकर वैसी घटना संभव बनाई जा सकी है। इसी तरह किसी भी कहानी में जहाँ कहीं किसी कार्य अथवा घटना को आकर्षक रूप प्रदान किया जाता है, उसके पूर्व परिस्थितियों का एक योजना-क्रम अपेक्षित होता है। यदि इन्हीं परिस्थितियों की सीढ़ियों को क्रम से न सजाया जाय तो उत्कर्ष का शिखर

अप्राकृतिक मालूम होगा और प्रभाव की समष्टि में व्यवधान पड़ जायगा।

परिस्थिति-योजना और 'ताई'

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' की प्रसिद्ध कहानी 'ताई' में इतिवृत्तात्मकता अधिक होते हुए भी परिस्थिति-योजना का संघटन बहुत ही अनुकूल हुआ है। पतंग के फेर में ताई के देखते-देखते मनोहर छत पर से गिर पड़ता है और वह उसको बचाने की चेष्टा नहीं करती। उसके इस क्रूर निश्चय के मूल में मनोवृत्ति का कैसा दूषित खेल है इसी को विधिवत् चित्रित करने में लेखक ने अधिक समय लगा दिया है, और प्रसरित इतिवृत्त के माध्यम से यह दिखाने की चेष्टा की है कि इस सीमा तक की क्रूरता ताई में किस प्रकार अपना रूप संगठित कर सकी है। अपने-पराये का भेद इतना पशुत्व-प्रेरक हो सकता है, इसका उदाहरण ताई के आचरण में मिलता है। परन्तु इस सीमा तक व्यक्ति कैसे और किन मानसिक स्थितियों में पहुँच सकता है, इसका विवरणपूर्ण इतिवृत्त पहले दे दिया गया है। किस प्रकार ताई में पुत्र-प्राप्ति की प्रबल लालसा है, पर वह अपने भतीजे को उस रूप में ग्रहण नहीं कर पाती जिस रूप में उसके पति करते हैं। दूसरी परिस्थिति यह पैदा होती है कि उसके पति वकील साहब बालक के प्रति अपत्य-स्नेह का अधिकाधिक अनुभव करते हैं। इससे उसमें तीव्र प्रतिहिंसा की भावना उद्दीप्त होती है। ताई के क्रूर रहने से बालक मनोहर में भी जो उसके प्रति सहज अविश्वास दिखाई पड़ता है उससे भी ताई की क्रूर वृत्ति उत्तेजित होती है। इन परिस्थितियों को लेखक ने जो विशेष क्रम से सजा दिया है उससे प्रस्तुत परिणाम सहज और सजीव हो उठा है। मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव दिखाते हुए आगे बढ़ना पड़ा है, इसलिए इतिवृत्त की अधिकता स्वीकार करनी पड़ी है और

उक्त उदाहरणों के द्वारा यह बात सरलता से समझी जा सकती है कि परिस्थिति-योजना का प्रयोगगत जो सौंदर्य है उसका सम्बन्ध सीधे वस्तु-विन्यास से होता है । वस्तु के

सारांश

प्रसार में मनुष्य की चरित्रावली और मानसिक क्रियाओं की गतिविधि आधारित रहती है—अपने पूर्व की परिस्थितियों पर । एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक पहुँचने में परिस्थिति की सीढ़ियाँ जब क्रम से सज जाती हैं, तभी कारण से कार्य और कार्य से परिणाम तक पहुँचा जा सकता है । जो लेखक जितना ही अधिक प्रकृत रूप में इसका संयोजन करेगा उतना ही अधिक उसकी रचना में यथार्थ सजीवता उत्कर्ष प्राप्त करेगी । जिन कहानियों में इतिवृत्तांश जितना ही कम होगा उनमें परिस्थितियों के चित्रण का आग्रह अपेक्षाकृत कम हो जायगा। उसकी कल्पना अनुमान के आधार पर सहृदय कर ले सकता है अतः उसके शाब्दी प्रतिपादन का संकोच स्वाभाविक है । उदाहरण के लिए प्रसाद की अनेक कहानियों को लिया जा सकता है । 'समुद्र-संतरण' शीर्षक रचना में इतिवृत्त की नितान्त न्यूनता होने के कारण परिस्थिति-कथन के लिए स्थान ही नहीं मिल सका है । राजकुमार का समुद्रबेला की शून्य मनोरमता में, उस धीवर-बाला को देखना और उस पर मोहित होना इतना भावुकतापूर्ण और सहज व्यापार है कि उसके लिए भौतिक कारणों के कथन की विशेष आवश्यकता ही नहीं रह गई है ।

पीठिका

कहानी के सर्वांग पर अपनी छाया डालनेवाला और प्रभावान्विति में पूर्ण योग देनेवाला दूसरा महत्वपूर्ण तत्व होता है, पीठका—आसन—आधार। इसी पीठिका पर आसीन और आधारित होकर रचना का स्वरूप गठित होता है। इस सम्बन्ध से कहानी का प्रतिपाद्य आधेय होता है और उसे प्रभविष्णुता प्रदान करनेवाली आधारिक वस्तु होती है पीठिका या आधार। आधार-आधेय-सम्बन्ध को समझने में कोई विलंब नहीं हो सकता। एक व्यावहारिक उदाहरण ही यथेष्ट होगा। यदि किसी दिव्य हीरक-खण्ड को कोई अनाड़ी गोबर-मिट्टी में सान कर मैले-कुचैले वस्त्र पर रख दे और दूसरी ओर कोई जवहरी उसी को खूब साफ करके किसी नीले रेशम के परिष्कृत वस्त्र पर रख दे तो आधार पक्ष के सौंदर्य का भेद बड़ी सरलता से समझ में आ जायगा। पदार्थ तो एक ही है पर अनुकूल और प्रतिकूल आधारों पर रख देने से वही भिन्न रूपों का प्रभाव उत्पन्न करता है। इसी सादृश्य को साक्षी मानकर देखा जा सकता है कि जिस सांकेतिक अथवा भावात्मक कहानी के सर्वथा अनुकूल उसकी पीठिका अपनी संपूर्ण साज-सज्जा के साथ सामने आ जाती है, उसमें मणिकांचन-योग

सामान्य परिचय

उपस्थित हो जाता है और कहानी के तात्पर्यार्थ की ध्वनि पीठिका से ही मिल जाती है। यदि कहानी का विषय कल्पना अथवा भावप्रधान है तो उसकी पीठिका-विषयक विभिन्न सामग्री भी भावात्मक ही होनी चाहिए। भावुकता एवं कल्पना की पूरी रंगीनी तभी खिलती है, जब उसी के अनुरूप प्रसार की भूमिका भी सजी मिले।

रंगमंच की समस्त सजावट जैसे अभिनय और उसके विविध कार्यों को सजीवता और यथार्थता प्रदान करती है उसी प्रकार कहानी के वस्तुविन्यास के भीतर आनेवाली, देश और काल से अनुप्राणित विभिन्न वस्तुस्थितियाँ ही उसके पतिपाद्य पक्ष को निरंतर मुखरित करती रहती हैं। जैसे नाटक में विषय एवं रंगमंचीय दृश्य-विधान के संयोग से इष्ट-फल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार कहानी के मूलभाव की प्रेरकता भी तभी पूर्णतया विकसित होती है जब उसकी प्रकृति के अनुरूप ही उसके चतुर्दिक् की समस्त सजावट हो। थोड़े में कहा जा सकता है कि कहानी में आधार-आधेय की सम्बन्ध-योजना प्रमुख वस्तु है। इसके अभाव में उसका समष्टिप्रभाव अशक्त रह जा सकता है और इस प्रकार सारी रचना निष्प्रयोजन सिद्ध हो जा सकती है।

उपादेयता

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस पीठिका के दो पक्ष हो जाते हैं। एक पक्ष का रूप वह होता है जहाँ विषयारंभ में प्रकृति का ऐसा प्रतीकमय चित्रण मिले कि कहानी के प्रतिपाद्य का संपूर्ण महत्व उस प्राकृतिक चित्रण से ही ध्वनित हो पड़े। जैसी प्रकृति कहानी के कथानक की होगी उसी के अनुरूप प्राकृतिक साजसज्जा का आसन बिछा दिया जायगा और उस पर समासीन होकर जीवन की वस्तुस्थिति का चित्र खिल उठेगा। एक प्रकार से देखा जाय तो कहानी चित्रों की एक मालिका होती है। उसके एक-एक परिच्छेद स्वतन्त्र खंड होते हुए भी कलात्मक ढंग से एक

पीठिका के दो पक्ष

में पिरोए हुए होते हैं। इन प्रत्येक स्वतन्त्र खंडों के आरम्भ में भी प्रकृति के खंड चित्रों का विधान पूरी व्यवस्था से हो सकता है और इस प्रकार आदि से अन्त तक कथानक के अर्थ को वहन करनेवाले और भी प्रकृति-चित्र लिए जा सकते हैं। शृंगार, करुणा, भयानक जिस रस की भी विवृत्ति कहानी में होनेवाली होती है, उसका सारगर्भ रूप, प्रतीक पद्धति से, इस आरम्भिक प्राकृतिक दृश्य-विधान में सन्निहित रहता है। इस प्रकार के प्राकृतिक चित्रों की यही उपादेयता माननी चाहिए। उनके कारण कथानक का सारा प्रसार रसात्मक हो उठता है।

पीठिका रूप में प्रयुक्त प्राकृतिक चित्र-विधान के अच्छे उदाहरण सामान्यतः प्रसाद की अधिकांश कहानियों में और अज्ञेय की 'जयदोल' संग्रह की कहानियों में दिखाई पड़ सकते हैं। 'पुरस्कार', 'सालवती' और 'बिसाती' कहानी की पीठिकाओं का स्वरूप विषय को अन्यत्त स्पष्ट कर देता है।

प्रथम पक्ष

'पुरस्कार' में कोशल के राजकीय उत्सव का दिव्य सभारम्भ प्रातःकालीन सूर्योदय की सुषमा के साथ करा देने से विषय को जो भव्यता प्राप्त हो गई है, वह बड़ी सजीव है। इसी तरह सदानीरा के जल में पैर डाले हुए सालवती की उर्जस्वित कथा आलोकमय बन जाती है। 'बिसाती' में भी शीरी की तन्मय प्रेमनिष्ठा तद्देशीय प्राकृतिक सुषमा के भीतर ही खिली है। ऐसे मनोहर आधार पर स्थापित करके लेखक ने कहानियों को प्राणमय बना दिया है। यथार्थवादी कहानियों में भी प्रेमचंद ऐसे लेखकों ने खेत-खलिहानों की स्वच्छंद सुषमा के बीच अपनी कहानी की स्थितियों को सजाया है। प्रकृति का भी प्रयोग कहीं कल्पनामूलक और कहीं यथार्थ हो सकता है। विषय की विवेचना के भीतर दोनों प्रकार के प्रकृति-चित्र आ सकते हैं। जयदोल की 'पठार धीरज', 'हिलीबोन की बत्तखें' इत्यादि कहानियों में पीठिका की सजावट बहुत ही प्रकृत और अभिप्राययुक्त हैं। प्रकृति-चित्रण की यह पद्धति केवल कहानी के आरंभ में ही हो, ऐसी बात नहीं है। उसके किसी भी खंडांश अथवा परिच्छेद से संलग्न यह रूप सजाया जा सकता है।

पीठिका के दूसरे पक्ष का सम्बन्ध स्थानीय चित्र-विधान से होता है। कहानी की घटनाएँ, क्रियाएँ इत्यादि किसी स्थान-विशेष पर सिद्ध होती हैं।

द्वितीय पक्ष

अतः यदि उस स्थान के विस्तृत विवरणों के साथ उनका संयोग पूर्णतया बैठ जाय तो उसी में एक सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। विषय के विस्तार के साथ यदि देश-खण्ड का प्रकृत परिचय हो जाय तो विषय-बोध में यथार्थता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार के देशकाल-विशेष की संयोजना से विषय के प्रति बड़ा कुतूहल उत्पन्न हो जाता है और उसमें एक प्रकृतत्व विधायक सजीवता लहरा उठती है। इस प्रकार के स्थानीय विवरणों और साज-सज्जाओं की सजावट में या तो भाषा योग देती है अथवा स्थानीय यथार्थ जीवन की झलक। स्थानीय सांस्कृतिक बनावट और वस्तु-स्थितियों से एकदेशीयता का जो आभास मिलता है वह रचना को प्रभावोत्पादक बनाने में बड़ा योग देता है; जैसे—वृन्दावन लाल की कहानी 'शरणागत' में एक शब्द 'दाऊजी' ने बुंदेलखण्ड की झलक दे दी। उसी तरह अज्ञेय का एक शब्द 'खूं ब्लाई' आसाम का संकेत कर देता है। उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानी 'डाची' में ऊंटबाड़ा के दृश्य ने और तत्स्थानीय विशिष्ट भाषा ने प्रांत का स्पष्ट संकेत कर दिया है। इस प्रकार भाषा, रीतिरवाज, वेशभूषा और क्रिया-कलाप स्थान-विशेष का अच्छा प्रतिनिधित्व कर देते हैं और साथ ही स्थानीय चित्र-विधान पूर्ण कर देते हैं। कभी-कभी कुशल लेखक अपनी सारी कहानी में स्थानीय चित्र-विधान को अधिकाधिक उभाड़ कर रखते हैं। वहाँ संपूर्ण कहानी से प्रांतीय वास्तविकता झलकती रहती है, इस विषय में प्रसाद की कहानी 'सलीम' और अज्ञेय की कहानी 'हिलीबोन की बत्तखें' आदर्शरूप में ग्रहण की जा सकती हैं। अतीत-कालीन वस्तु-विस्तार में स्थानीय चित्रात्मकता लेखक की काल्पनिक सजीवता पर अवलम्बित रहती है। यदि कृतिकार कुशल कलाकार है तब तो वह जीवन की विभिन्न वस्तु-स्थितियों को बड़ी कारीगरी से प्राणमय बना देगा। अतीत के अन्तराल में मुखरित प्रसाद की कहानियों में देश और काल की प्रौढ़ व्यंजना देखी जा सकती है।

परिवेश

अभी तक जिन तीन तत्वों—परिस्थिति-योजना, प्रकृति-सज्जा और देश-काल-चित्रण की बात कही गई है उनकी एक इकाई स्थापित करनेवाला चतुर्थ तत्व होता है—

सामान्य परिचय

परिवेश अथवा परिवेशमण्डल।[1] जैसे राम और कृष्ण की विशिष्ट शक्ति और सौन्दर्य के प्रतीक-स्वरूप उनके कल्पना-चित्रों में दीप्ति एवं आलोक का एक मण्डल मुखाकृति के चतुर्दिक प्रतिष्ठित किया जाता है अथवा जैसे सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर तीव्र प्रकाश का एक बंधा हुआ मण्डल रहता है उसी प्रकार की विशेषता कहानी में भी रहती है। कहानी के विभिन्न परिच्छेद एवं खण्ड अपने में पूर्ण होते हैं—इस अर्थ में कि एक देशकाल और परिस्थिति के व्यूह में आबद्ध रहते हैं। वे सब मिलकर एक चित्र होते हैं। जैसे; चित्र में राम-सीता वन-प्रान्त के अन्तराल में बहती हुई नदी से जल लेकर वृक्षों को सींचते और मृग-शावकों से खेलते दिखाए जायँ तो पीठिका से पूर्णतया संवलित परिस्थिति का स्पष्ट एक ऐसा पूर्ण परिवेश बंधा दिखाई पड़ेगा जो स्वयं अपनी समग्रता का बोध करा देगा। यह समग्रता

१—(i) **लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेशमण्डलः—रघुवंश** (११, ५९)। (ii) **'परिवेशस्तु परिधिः'—इत्यमरः।**

अवश्य ही खण्डांश होगी—पूरी कहानी की, पर वह एक चित्र अपने में पूरा होगा। उसके तात्पर्य के समझने में किसी प्रकार की भ्रांति नहीं हो सकती। परिवेष-मण्डल का लक्ष्य यही रहता है कि अपने वृत्त के भीतर जीवन और जगत् के किसी खण्ड-विस्तार को सुन्दरता से समेटे रहे और उक्त तीनों तत्वों को इस प्रकार संयोजित करे कि वे एक सामूहिकता में गठित दिखाई पड़ें।

परिवेश-परिधि की विवेचना मूलतः कहानी के कथानक तत्व के अन्तर्गत है। रचना में संपूर्ण इतिवृत्त को कुछ ऐसे सुविचारित ढंग से बाँट दिया जाता है कि प्रत्येक खण्ड अथवा परिच्छेद अपने परिवेश में प्रायः पूर्ण-सा रहता हुआ भी कहानी की सामूहिक योजना और उसके समष्टिप्रभाव को उत्कर्षोन्मुख बनाता रहता है। एक देश और काल की परिमिति के भीतर और कुछ परिस्थितियों की संगति में मानव-जीवन की एक झलक दिखाना ही कहानी का साध्य पक्ष होता है। जैसे एक वृत्त कई अंशों में विभाजित कर दिया जाय तो उन अंशों की पूरी दौड़ में वृत्त की समग्रता उद्घाटित हो जायगी, उसी तरह कहानी के विभिन्न परिच्छेदों के आधार पर इतिवृत्त की सारी गतिविधि का बोध हो जायगा। ये परिच्छेद मानव-जीवन की एक झलक की विविध भूमिकाएँ हैं और उन भूमिकाओं की अपनी परिधि अथवा मण्डल है। यही कारण है कि कहानी के प्रत्येक खण्ड में एक परिस्थिति का पूर्ण चित्रण रहता है। किसी कहानी में यदि चार खण्ड हैं तो विचार-पूर्वक देखने से प्रकट होगा कि प्रत्येक खण्ड की कथा और चित्रण स्वतः अपने में पूर्ण होता है। ऐसे प्रत्येक खण्ड की अपनी पीठिका रहती है और वह एक निश्चित देशकाल अथवा स्थानीय रंगमंच की परिधि में बंधा रहता है।

परिवेश की परिधि किस प्रकार बनती है इस रहस्य को दो-एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। 'प्रसाद' की प्रसिद्ध कहानी 'पुरस्कार' के प्रथम अथवा द्वितीय खण्ड के भीतर उक्त विभिन्न तत्वों का एक सामूहिक संगठन देखा जा सकता है—

आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुंदुभी का गंभीर घो । प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झांकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा-भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

परिवेश का उदाहरण

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का एक झोंका स्वर्णमल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल-सूचाना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

यहाँ तक कुशल लेखक ने प्रकृति-पीठिका की सजावट की है, इसके आगे विविध प्रकार की आवृत्त वस्तुस्थिति का स्थापन है। उससे देशकाल की विवृति पूरी हो जाती है और मानवजीवन की कैसी झलक आगे दी जानेवाली है इसकी पूरी भूमिका निम्नलिखित गद्यांश में मिलेगी—

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की ंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित वर्ग ने स्वत्ययन किया। स्वर्णरंजित हल की मूठ पकड़ कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिये महाराज को कृषक बनना पड़ता—उस दिन इंद्र-पूजन की धूमधाम

होती, गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी-भूमि में आनंद मनाते। प्रति वर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से संपन्न होता, दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

इस प्रकार के देशकाल के आयोजनमय आवरण के भीतर मनुष्य के आचरण और क्रिया-कलाप का एक चित्र निम्न लिखित पंक्तियों मे मिलेगा। इस स्थल का यही चित्र-विधान आगे की महत्वपूर्ण परिस्थितियों का प्रेरक या जन्मदाता बनेगा। अतएव उसका कौशलपूर्ण अंकन साभिप्राय है। इस प्रसंग-चित्रण के भीतर तीन व्यक्ति विशेषतः आलोकित हो रहे हैं—महाराज, कुमारी मधूलिका और मागधी राजकुमार अरुण। इन्हीं तीनों को लेकर यथासाध्य एक दृश्य सजीव बनाया जा रहा है।

बीजों का एक थाल लिये हुए कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिये चुना गया था। इसलिये बीज देने का संमान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेय-वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी-कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गुंथे जा रहे थे, सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मंद मुस्कराहट के साथ सिहर उ ते, किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखलाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे, विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक कुमारी मधूलिका को। आह कितना भोला सौंदर्य। कितनी सरल चितवन।

उत्सव का यही दृश्य मधूलिका के भावी जीवन में परिस्थितियों की लहर उत्पन्न करता है। उत्सव के इस प्रधान कृत्य के समाप्त होते ही राजा और मधूलिका के सामने एक समस्या खड़ी हो जाती है। राष्ट्रिय नियम के अनुसार मधूलिका के पैत्रिक खेत का पुरस्कार देकर भी महाराज विचार के संघर्ष में पड़ गए और मधूलिका राजकीय नियम के अनुकूल अपनी भूमि समर्पित करके भी अनमनी-सी सन्न होकर बैठ जाती है। वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर और मगध के सम्मानरक्षक सिंहमित्र की कन्या अपनी एक मात्र पैत्रिक संपत्ति देकर भी प्रत्युपकार रूप में कुछ ग्रहण नहीं कर सकती। समस्यामूलक इसी परिस्थिति को उभाड़ना कहानी के इस खंड का लक्ष्य है। खंड का आरंभ इतिवृत्त के उदय का संकेत देता है, तो उसका अंत एक प्रकार की परिस्थिति के अंत का बोध कराता है। एक खंड की परिधि के भीतर ही आरंभ-विकास और अंत का विधान करनेवाला एक परिवेशमंडल अपने में ही पूर्ण बन उठता है। खंड की समाप्ति इस प्रकार होती है:—

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने अपने शिविरों में चले गए, किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमननी चुपचाप बैठी रही।

इस विषय में विचार की एक बात यह है कि अरस्तू के संकलन-त्रयवाली सिद्धि के आधार पर कहानी का प्रत्येक परिच्छेद

परिवेश और परिच्छेद

अपने में पूर्ण होता है। सामान्यतः तो यही दिखाई पड़ता है इसके भीतर एक समय और स्थान पर घटित होनेवाली घटनाएँ ही लाई जाती हैं। मानव-जीवन की कोई परिस्थिति विशेष ही उसके भीतर सुसंघटित रहती है। इस प्रकार

परिच्छेद के लिए आवश्यक है कि उसके परिवेश-मंडल के अन्तर्गत संकलनत्रय पर आधारित एक चित्र-विधान दिखाई पड़े। यों तो समग्र कहानी-रचना में यदि संकलनत्रय का निर्वाह किया जाय तो प्रभान्विति की संगति अखंड हो उठती है पर कुशल लेखक बिना ऐसा किए भी प्रभाव का केन्द्रीकरण कर लेते हैं। प्रेमचन्द की कहानी 'सुहाग का शव' में भारत से चलकर टेम्स के किनारे सोहाग का शव मिलता है। ऐसी स्थिति में संपूर्ण रचना में इस त्रयी की ढूंढ़-खोज उतनी आवश्यक नहीं हो सकती जितनी एक परिच्छेद के भीतर। परिच्छेद अथवा खंड की परिधि में जीवन और उस पर एक परिवेश चित्रित रहता है। परिवेश के पूरक तत्व पीठिका और परिस्थिति के व्यावहारिक प्रयोग म भिन्न-भिन्न प्रकार की विविधता दिखाई पड़ती है। 'प्रसाद' की अतीत के अन्तरालवाली कहानियों में भावावेश को उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति-चित्रण पीठिका में प्रायः नियोजित किया जाता है, पर इतिवृत्तमूलक कहानियों में यह पक्ष स्थानीय परिचय अथवा ंगमंच की सज्जा के अन्तर्गत घुला-मिला रहता है। परिच्छेद के भीतर किसी निश्चित दशा में पड़ा मानव सामने लाया जाता है और इस दशा की अभिव्यक्ति काल की गतिविधि एवं स्थानांकन के माध्यम से होती है। इन दोनों तत्वों का प्रयोग किसी भी प्रकार की कहानी और उसके किसी परिच्छेद के लिए अनिवार्य है और ये दोनों अंग हैं परिवेश तत्व के, अतः परिवेश दूसरे रूप में परिच्छेद है। एक के उपरान्त जब दूसरा परिच्छेद आरम्भ होता है, तब परिवेश-मंडल बदल जाता है। इस दृष्टि से किसी भी इतिवृत्त-प्रधान कहानी को उदाहरण रूप में देखा जा सकता है।

इतिवृत्त-प्रधान कहानियों में जहाँ प्राकृतिक साजसज्जा से अभिराम पीठिका को सजाने का अवसर प्रायः नहीं मिलता वहाँ भी एक परिच्छेद अथवा परिवेश के अन्तर्गत किसी पीठिका पर आसीन कैसे एक परिस्थिति का चित्रण होता है, इसका उदाहरण हिन्दी की

प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' का प्रथम खंड माना जा सकता है। उसमें अमृतसर के बंबूकार्टवालों के बीच में से कुशल कहानीकार ने कहानी का आरम्भ किया है। बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की दूकान पर जा मिले——बस कहानी चल पड़ी। यहाँ तक कहानी का जो आरम्भिक अंश है, वह सब पीठिका-क्रम के अन्तर्गत आता है और उससे देशकाल की अभिव्यक्ति पूरी हो जाती है।

बड़े बड़े शहरों के इक्के–गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़ों को चाबुक से धुनते हुए, इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह-चलते पैदलों की आंखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पैरों को चींथ कर अपने ही को लाया हुआ बताते हैं, और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले तंग चक्करदार गलियों, में हर एक लड्ढीवाले के लिए हर कर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बची खालसा जी।' 'हटो भाई जी।' 'ठहरना भाई।' 'आने दो लाला जी।' 'हटो बाछा।' कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में राह लेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं——'हट जा जीने जोगिए, हट जा करमा वालिए, हट जा पुत्तां प्यारिए, बच जा लम्बी वालिए।' समष्टि में

इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने हैं, तू क्यों मेरे पहिए के नीचे आना चाहती है ? बच जा !"

ऐसे बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर जा मिले---और इसी प्रकार कुछ न कुछ खरीदने के अभिप्राय से दो-चार बार और आगे भी मिले। उन दोनों के बीच थोड़ा-सा संवाद भी हुआ और आकर्षण उत्पन्न हुआ, परिस्थिति के इस कारण को लेकर लड़के में जो मानसिक परिणाम उत्पन्न हुआ उसको सुन्दरता से उपस्थित करते हुए कुशल कृतिकार परिच्छेद की समाप्ति इस प्रकार करता है:---

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले की दिनभर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

वातावरण

यहाँ तक तो उन तत्वों की विवेचना हुई जो अपने योग से कहानी के वस्तु-विन्यास को संवारते और सजीव बनाते हुए कहानी के तात्पर्यार्थ अथवा प्रभावान्विति को सिद्ध करते हैं। इनके अतिरिक्त कहानी की सामूहिकता से सम्बद्ध एक प्रभावशाली तत्व और होता है—वातावरण। इसका सम्बन्ध कहानी के इष्टार्थ अर्थात् प्रतिपाद्य प्रभावान्विति से अधिक होता है। यह किसी एक अथवा अनेक तत्वों में योग नहीं देता वरन् कहानी की समष्टि का मानस पर छायात्मक प्रभाव डालता है अथवा स्वयं में कहानी का इष्ट बन कर अन्य तत्वों को अपने अंग रूप में स्वीकार करता है। कहानी को पढ़ लेने के उपरान्त चित्त कहीं करुणा की तरलता से द्रवित हो उठता है, कहीं कुतूहल और आश्चर्य में बुद्धि पड़ जाती है, कहीं कल्पना की रंगीनी से मन विस्मय-विमुग्ध हो उठता है, और कहीं प्रेमवात्सल्य की सरसता छाई मिलती है। इस तरह किसी भी कहानी को पढ़ लेने पर एक प्रकार के वातावरण का अनुभव पाठक करता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो परिवेशमंडल के भीतर की सारी सामग्री चाक्षुष प्रत्यक्ष होती है। अर्थात् उसकी अनुभूति वस्तुजन्य और भौतिक दिखाई पड़ती है,

सामान्य परिचय

पर वातावरण का बोध शुद्ध मानसिक क्रिया है।[१] भिन्न इंद्रियों और उनके ज्ञान का बोध जब हो लेता है और जितनी उत्तमता से हो लेता है, तब उन्हीं सब का प्रभाव मस्तिष्क में भर उठता है। कहानी के वस्तुप्रसार के तनाव पर परिव्याप्त जो एक प्रकार का वायुमंडल अथवा वातावरण होता है, उसे कहानी का शुद्ध मानस आभोग, मानना चाहिए।

वातावरण का योगवाही रूप

वातावरण दो प्रकार का होता है सामान्य और विशेष। सामान्य रूप वह है जो प्रायः न्यूनाधिक रूप में सभी कहानियों में उपस्थित रहता है। देशकाल की परिमिति में बँधे हुए जीवन का जब एक चित्र सामने आएगा अथवा किसी परिस्थिति का जब विधिवत् उद्घाटन होगा, तब देश-काल और विषय के संयुक्त रूप का एक वातावरण अवश्य ही उत्पन्न करेगा। इस प्रकार के सामान्य वातावरण संबंधी प्रभाव तो किसी

१—"Local colour, as the term implies, makes its appeal largely to the eye of the reader. Atmosphere on the other hand makes its appeal almost entirely to the emotions. One is objective and the other is subjective. One must be true to the fact, the other true to a given mood either of the author or of his creature, the leading character.

Local colour attempts to harmonize the details of setting and character with the actual conditions of a given time and place; atmosphere attempts to harmonize setting and character with the feelings of a character in a certain time and place. Thus it will be seen that the one is usually perceived by the intellect, the other by the emotions."

—*Glenn Clark, A. M. : A Manual of the Short Story Art* (1926), *pp*. 72.

भी कहानी में देखा जा सकता हैं। जयशंकर प्रसाद की कहानी 'आकाश दीप' में भावोत्तेजक रोमांचकता का वातावरण दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार की अतीत से संबद्ध कोई भी अन्य कल्पना सामान्यतः भावोत्तेजक और रोमांचक दिखाई पड़ेगी। उसमें कुतूहल और भावुकता का एक संमिश्रित वातावरण यों ही बना मिलेगा। प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' में अस्तंगत नवाबी की काहिली और बेहोशी का और गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' में युद्धक्षेत्र का वातावरण योगवाही रूप में चित्रित मिलेगा। इस प्रकार के वातावरण अपने-अपने ढंग से कहानी की सामूहिकता को उभाड़ते हैं और प्रतिपाद्य पक्ष को यथार्थता प्रदान करते हैं अथवा रचना के संपूर्ण विस्तार में एकत्व का विधान उपस्थित करते हैं। यहाँ विचार करने की बात यही है कि सामान्य ढंगवाला वातावरण स्वयमेव कहानी का इष्ट नहीं बनता बल्कि उसके सामूहिक प्रभाव के उत्तेजक रूप में रहता है; अर्थात् कृति में उसका रूप योगवाही होता है। उसे विषय का पूरक अंश मानना चाहिए; वह प्रतिपाद्य के अंग रूप में ग्रहीत होता है।

उदाहरण

प्रसाद की कहानी 'सलीम' में सीमाप्रांत के एक गाँव की संध्या का जैसा वातावरण मिलता है, अथवा 'सालवती' के रोमांचक दृश्य-विधान के भीतर जैसा काल्पनिक वातावरण है, वह अपने में कुतूहलवर्धक होते हुए भी अंत तक सहायक रूप में ही चला है। ऐसी कहानियों में पाठक के चित्त पर छा उठनेवाली बात कहानी का प्रतिपाद्य ही बनता है न कि कहानी का सामूहिक वातावरण। 'सलीम' कहानी में अंत तक आते-आते सलीम की दुर्दान्त धार्मिक असहिष्णुता और प्रेमा के ममत्व भरे स्त्रीत्व की ही छाया पाठक के मानस पर छाती है न कि सीमाप्रांत के वजीरियों की बस्ती का वातावरण। इसी तरह 'सालवती' के अंत में नायिका की ऊर्जस्वित चरितावली से संयुक्त मातृत्व की गरिमा और नायक के निर्लिप्त दायित्व

की तरलता ही उभड़ी सामने रह जाती है न कि देश-काल के वातावरण की प्रधानता। यहाँ पाठक के मानस पर वातावरण का इतना प्रभाव एकरस होकर केंद्रित नहीं होता। उसके चित्त को आंदोलित करनेवाली प्रभावान्विति तथ्यमूलक होती है, वातावरण-मूलक नहीं। उसका संबंध या तो जीवन के किसी तथ्य से होगा अथवा प्रधान पात्र के चरित्र से। सामान्य वर्गवाले वातावरण की मुख्य भेदकता इसी पर अवलंबित रहती है कि वह विभिन्न परिच्छेदों को आवरित करनेवाले परिवेश-मंडल को अलंकृत करके अपने प्रभाव को पीछे छोड़ता चलता है। उसके अपने प्रभाव की कोई सुस्पष्ट अन्विति नहीं गठित होने पाती।

वातावरण का अंगी रूप

वातावरण के प्रयोग का दूसरा स्वरूप सर्वथा भिन्न होता है। उसकी भेदक-विशेपता इस बात में दिखाई पड़ती है कि किसी कहानी का वह स्वयं में इष्ट और प्रतिपाद्य बन जाता है। वस्तु, पात्र, देशकाल, संवाद इत्यादि तत्व उसमें अंग रूप से प्रयुक्त होते हैं। कहानी में अंगी अथवा प्रधान रूप में जब वाता-वरण खड़ा होगा तब कहानी की प्रभावान्विति वातावरणमूलक हो जायगी। अंत तक पहुँचते-पहुँचते कहानी की सामूहिकता से वातावरण की एक भावात्मक अनुभूति ध्वनित होगी और वही अनुभूति पाठक के चित्त को पूर्णतया आवरित करती मिलेगी। वहाँ मानवीय कृतित्व से सर्वथा पृथक वायुमंडल-विषयक एक छाया ही मुख्यतया चित्त को द्रवित करेगी। इस प्रकार का एकत्वविधायक एक प्रभाव—जिसका केवल मानस-प्रत्यक्ष हो सके—वातावरण कहलाता है। कहानी में जब किसी विशिष्ट प्रकार के वातावरण को कृतिकार अपना चरम लक्ष्य बनाता है, तब उसे तद्विषयक अनुभूति उत्पन्न करने के लिए एक प्रकार की ऐकान्तिकता को ऐसा सजाना पड़ता है कि अपनी विविध परिस्थितियों से बँधा हुआ मानव भी अपने आचरण और रहन-सहन से उसी की ध्वनि उत्पन्न करता मिले।

ऐसे स्थल पर मनुष्य के अतिरिक्त उसके चतुर्दिक् की सारी साज-सज्जा से भी मुख्यतः उसी वातावरण की ध्वनि निकलती मिलेगी । थोड़े में कहा जा सकता है कि वातावरण-प्रधान कहानियों में संवेदनशीलता का मुख्य आधार वातावरण ही बनाया जाता है और मनुष्य की विविध परिस्थितियाँ अथवा किसी जीवन के विभिन्न परिवेश उसी की अखण्डता का संकेत देते रहते हैं ।

एक अत्यंत जीर्ण-शीर्ण, बे-मरम्मत बड़े-से मकान की कल्पना कीजिए, जिसकी कच्ची-पक्की दीवारों पर छोटी-बड़ी घास पैदा हो गई है । उसी तरह दूसरी ओर किसी कोने में वासुदेव जी भी अपने अस्तित्व को प्रमाणित करते दिखाई पड़ रहे हैं । चारों ओर का सारा का सारा विस्तार सूना-सूना सा निर्जीव मालूम पड़ रहा है । सायंकाल होते ही अबाबीलों की उड़ान उस स्थान को और विरस बना रही है । समूचे वातावरण में खिन्नता, दीनता और शून्यता जमी हुई है । उसके भीतर कोई मानव है भी तो वह दिल से टूटा हुआ, उखड़ा हुआ, विवश जीवन की घड़ियों को गिनता-सा हिल-डोल रहा है और अपना दैनिक कार्य भारवत् संपादन किए जा रहा है । वह भी अपने जीवन की निर्जीवता से यदि उस गृह को भयावह प्रमाणित करने में योग दे रहा है, तब तो वातावरण का रंग पक्का और स्थायी प्रभाव डालनेवाला बन जायगा । उस मनुष्य की बातों से, उसके विविध क्रिया-कलापों से और उस स्थान पर छाए हुए वायुमंडल से यदि पूरी संगति बैठ गई तो फिर एक ऐसा स्थायी प्रभाव डालनेवाला रूप सामने आएगा कि वह स्वयं अपने में कहानी का इष्ट बन जा सकता है ।

वातावरण का स्वरूप

इसी तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों की ध्वनि-वहन करनेवाले विविध प्रकार के वातावरण हो सकते हैं । यह कोई आवश्यक नहीं कि केवल विषाद, दैन्य अथवा शोक ही की धूमिल छाया बन सके । संपूर्ण कहानी के विस्तार-प्रसार पर कहीं उत्साह और कहीं रोमांचकता भी छाई मिल सकती है । प्रसाद की कहानी समुद्र-संतरण में प्रकृति की अद्‌भुत मनोहरता तो वर्णित है ही, उस पीठिका पर आसीन जो

विविध रूप

जीवनचर्य्या अथवा मानवलीला है वह भी रोमांचकता और आन्तरिक उत्फुल्लता की ही सर्जना करती है। आधार-आधेय का ठीक योग बैठ जाने से कहानी भर में रोमांचक वातावरण छाया मिलता है। धीवर-बालिका और राजकुमार तो निमित्त मात्र हैं। पाठक के मन पर छा उठनेवाली छाया तो बड़ी मीठी, सुकुमार और तरल है और वही सब कुछ है, कहानी का प्राण है। राधाकृष्ण की कहानी 'अवलंब' में दारिद्र्यमूलक विवशता भरी हुई मिलती है। न तो पात्र के नाम और परिचय की आकांक्षा पाठक को रह जाती है और न उस बीमार बच्ची और उसकी माता का ही प्रभाव जम पाता है। केवल दारिद्र्य के भयंकर अट्टहास में डूबती-उतराती जीवन की अभिशप्त छाया ही प्रमुख मालूम पड़ती है। करुणा का ऐसा वातावरण तना हुआ मिलता है कि पात्रों की जीवन-कथा अथवा उसके विवरण की ओर ध्यान ही नहीं जाता। वह तो एक निमित्त-रूप में प्रयुक्त मालूम पड़ता है। सारी कहानी को समाप्त कर लेने पर न तो पात्रों का स्मरण रह जाता और न उनकी विविध स्थितियों का; केवल इन सब से ध्वनित होनेवाली करुणा का ही एकच्छत्र प्रसार मानस पर, कुछ देर के लिए, छा उठता है और कहानी का प्रतिपाद्य मूलतः वही बन जाता है।

भेदकता

हिन्दी ही में नहीं, सामान्यतः सभी सम्पन्न साहित्यों में वातावरण-प्रधान कहानियाँ अपेक्षाकृत कम मिलती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वातावरणमूलक प्रभावान्विति की सृष्टि में प्रतिभा और सजीव कल्पना अधिकाधिक अपेक्षित होती है। वह साधारण लेखक के बूते के बाहर की बात होती है। यों तो जिनकी बुद्धि भेदकता की बारीकी को पूर्णतया नहीं पकड़ सकती वे अवश्य सोच सकते हैं कि पीठिका-सम्बन्धी रंगीनी को अधिकाधिक उभाड़ देने से काम चल जा सकता है और वातावरण की प्रधानता सिद्ध हो सकती है; पर बात ऐसी नहीं है। पीठिका-सम्बन्धी विविध

साज-सज्जाएँ केवल शासन का अलंकरण कर सकती हैं, वातावरण के सामूहिक प्रभाव को संगठित करने में उनका योग अधिक नहीं होता। यहाँ पर परिवेश और वातावरण के पार्थक्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। परिवेशमंडल के अन्तर्गत आनेवाली बातें योगवाही होती हैं। वे प्रतिपाद्य के अलंकरण में सहायक अवश्य होती हैं, पर कहानी पर छा उठनेवाले एकत्वविधायक प्रभाव के रूप में उन्हें नहीं स्वीकार किया जा सकता। दोनों तत्व मूलतः आपस में भिन्न हैं। इस मर्म को न समझनेवाले यह सोच सकते हैं कि वातावरण-प्रधान कहानी की रचना सरल है और परिवेश की अधिकाधिक सजावट द्वारा वातावरण उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार की भ्रांति अंगरेजी लेखकों में भी साधारणतः दिखाई पड़ी है और पिटकिन को अनुशासन-भरी आलोचना लिखनी पड़ी है।[१]

वातावरण का समष्टिप्रभाव 'अज्ञेय' की कहानियों में अच्छा दिखाई पड़ता है। यों तो उसका सुन्दर रूप जयदोल में संग्रहीत 'हिलीबोन की बत्तखें' में भी अच्छा दिखाई पड़ता है पर इसका सर्वोत्तम विधान गेंग्रीन (रोज) में प्राप्त होता है। यह कहानी अपने ढंग की बेजोड़ रचना है। विषाद-व्यंजक उदासी और उबास इस रचना में ऐसी छाई हुई मिलती है कि कहानी के अन्त में आते-आते अध्येता विषय के प्रसार को भूल जाता है और चतुर्दिक् से उमड़ती हुई उदासी में डूब जाता है। कहानी का आरम्भ ही लेखक ने इस ढंग से किया है, जैसे वह पाठक को किसी अभिशप्त वातावरण में ले जा रहा हो :—

वातावरण का उदाहरण

१—'Many Students get the notion that environment is atmosphere and so they fall into the technical blunder of trying to produce atmosphere by elaborate descriptions of scenery. Their belief is false, and their practice only occasionally sound. The atmosphere is, be it repeated, the impression which environment makes upon the beholder and which the beholder, in writing seeks to convey to his readers."

—*Pitkin, W. B. : The Art and Business of Story-Writing*, (1919), *pp.* 193-194.

दोपहर में उस सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा मानो उस पर किसी शाप की छाया मंडरा रही हो। उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य अस्पृश्य, किंतु फिर भी बोझल और प्रकम्पन और घना-सा फैला रहा था...

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचानकर उसकी मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

कहानी का अंत जिस प्रकार हुआ है, वह भी विचारणीय है। जीवन की उबास से भरी उदासी मालती के भीतर-बाहर ऐसी व्याप्त दिखाई पड़ती है कि एक-एक घंटा समय उसे युग के समान मालूम पड़ता है:—

तभी ग्यारह का घंटा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठाकर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी और घंटा-ध्वनि के कंपन के साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज में उसने कहा—"ग्यारह बज गये..."

इस प्रकार कथावस्तु की प्रत्यंचा से कसे हुए धनुष के दोनों छोरों के बीच के तनाव की तरह कहानी के सारे विस्तार में जीवन की उबास वातावरण बन कर छाई हुई है और भार-रूप जीवन की वेदना गहरी हो पड़ी है। कहानी पढ़ चुकने पर पाठक के चित्त पर न तो किसी पात्र के व्यक्तित्व की छाप पड़ती है न किसी परिस्थिति अथवा घटना ही का प्रभाव दिखाई पड़ता, केवल विवश और निरीह जीवन की उदासी ऐसी गहरी होकर छा उठती है कि उसका मन कुछ खोया-खोया सा और धूमिल हो जाता है—यही वातावरण का एकत्वविधायक प्रभाव है।

दोष-दर्शन

सिद्धान्त और व्यवहार

कहानी-रचना के सिद्धान्तों की इतनी समीक्षा हो जाने के बाद प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि सामान्यतः कोई इन सिद्धान्तों का अनुगमन न करे तो कहानी की क्या स्थिति हो सकती है, इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि समीक्षा-शास्त्र में प्राय: उन्हीं सिद्धान्तों को स्वीकार किया जा सकता है, जो रचना-पद्धति की प्रकृति के आधार पर या तो सिद्धान्ततः अनुमित होते हैं अथवा विभिन्न श्रेष्ठ कृतिकारों द्वारा व्यवहृत और परीक्षित होते हैं। इसलिये यह तो निर्विवाद ही मानना चाहिए कि जिन कहानियों में इन नियमों की अवहेलना, किसी भी रूप में, हुई होगी वे निश्चय ही किसी न किसी अर्थ में दोषपूर्ण हो जायंगी। इस स्थान पर विचार की यह बात अवश्य आती है कि क्या श्रेष्ठ कलाकार सिद्धांत-ग्रन्थों को पढ़ लेते हैं और तब कलम उठाते हैं? —ऐसा तो नहीं होता। कोई भी लेखक केवल शास्त्र-ज्ञान के बल से उत्तम कोटि का रचनाकार नहीं बन सकता। उसके लिए तो कारयित्री प्रतिभा का होना नितांत आवश्यक है। पर शास्त्र-ज्ञान साधन और योगवाही का काम अवश्य करता है। या तो कृतिकार अपनी व्यक्तिगत साधना और व्यावहारिक परीक्षा के द्वारा वहाँ तक पहुंचे अथवा अध्ययन द्वारा उसका बोध कर ले; इस प्रकार निर्माणकारिणी शक्ति और समीक्षाशास्त्र के सिद्धान्तों का सम्बन्ध आवश्यक है।

उक्त कथन जितना साहित्य के किसी भी अन्य रचना-प्रकार के लिए आवश्यक है, उतना ही कहानी के लिए भी। कहानी के जिन तत्वों की मीमांसा पूर्व के अध्यायों में हो चुकी है, उसके आधार पर अथवा अपने अध्ययन की पटुता के आधार पर अध्येता अथवा सामान्य पाठक यह समझ ले सकता है कि किसी कहानी में क्या दोष की बात है। दोष या तो रचना-पद्धति से सम्बद्ध होगा अथवा उसका सम्बन्ध कहानी के सामूहिक प्रभाव से होगा। या तो रचना के सिद्धान्त के निर्वाह में कहीं चूक दिखाई पड़ेगी अथवा उसकी प्रभाव-समष्टि ही किसी रूप में खंडित मिलेगी। कारण कुछ भी हो, यदि कहानी में पाठक को रस न मिल सका तो उसका सारा श्रम निरर्थक और रचनाकार की निर्मिति शून्य हो उठेगी।

जब कहानी के विविध तत्वों के क्रम से दोषों का विचार किया जाय तो सबसे पहले उन दोषों को देखना होगा जिनका सम्बन्ध विषय अथवा कथानक से रहता है।

कथानक के दोष

कथानक यदि पिटा-पिटाया और दैनिक जीवन की सामान्य इतिवृत्तात्मकता से सम्बद्ध होगा तो साधारण पाठक की अभिरुचि का न हो सकेगा। कोई प्रतिभा-सम्पन्न कृतिकार भले ही मिट्टी में जान फूंक दे पर अभ्यासी रचनाकार जब तक कोई विशिष्ट कथांश नहीं पाएगा रोचकता नहीं उत्पन्न कर सकेगा। कथानक का वह अंश भी दोष-पूर्ण माना जायगा जिस पर बुद्धि और तर्क को आस्था न होगी। जहाँ-कहीं भी परिस्थिति-योजना और घटनाक्रम का मेल नहीं बैठेगा अथवा कारण, कार्य और परिणाम में क्रमगत संगति न बैठाई जायगी वहाँ भी रचना-पद्धति-विषयक दोष मिलेगा। इसके अतिरिक्त कथानक के भीतर आनेवाले कथांशों की कड़ियाँ ठीक से न ग्रथित हो सकीं तो कहानी के सामूहिक प्रभाव में भ्रांति और अंधकार उत्पन्न हो जा सकता है और यह सर्वथा अवांछनीय होगा।

यदि कथानक के प्रसार में उबास और इतिवृत्तात्मक रुक्षता मिले तो इसे भी दोष मानना चाहिए, क्योंकि इससे प्रगट होता है कि परिस्थितियाँ तीव्र गति से चलकर पाठकों के चित्त को उलझाती हुई किसी परिमाण तक नहीं जा रही हैं। ऐसी स्थिति में कथा-पक्ष की सारी दौड़ अरुन्तुद और अप्रिय बन जायगी। कहानी में कथा-तत्व का आरोचक सौन्दर्य सामान्यतः अभीप्सित होता है।

इसके साथ ही यह भी विचार करना होगा कि कहानी का विषय और वस्तु ऐसी हो जो पाठक की अनुमान-सीमा के भीतर आ सके। अत्यधिक भावुकता और कल्पना पर आधारित पात्र और स्थान-चित्रण साधारण कोटि के पाठकों के लिए अभिरुचि के कारण नहीं हो पाते। अतीत के अंतराल से वस्तु संकलन करने वाली उच्च कोटि की कहानियाँ साधारण जनता के लिए नहीं हो सकतीं। '**स्वर्ग के खंडहर**' में और '**समुद्र संतरण**' में सारा विषय इस क्रम से सजाया गया है कि उच्च कोटि का सहृदय ही उसके रस का आस्वादन कर सकता है। साधारण जन उस प्रकार के ऐकांतिक वातावरण का अनुमान-गम्य अनुभव नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में अति सुदूर का विषय अथवा स्थानांकन पाठक की परिचय-सीमा के भीतर नहीं आ पाता और उसके लिए अग्राह्य हो उठता है। इसी तरह के रचना-तत्व-सम्बन्धी दोष चरित्र, संवाद इत्यादि में भी हो सकते हैं। इन विषयों में जैसे सिद्धान्तों की विवेचना पूर्व के अध्यायों में हो चुकी है, उन्हीं के साक्ष्य पर दोषों का संकेत मिल जा सकता है। पात्रों की कल्पना अथवा स्वरूप-निर्मिति यदि अनुभव और अनुमानादि-ज्ञान के अनुरूप नहीं उतरेगी तो चरित्र में दोष अवश्य दिखाई पड़ेगा। ये पात्र जीवन और जगत् के अन्तराल में यथार्थ चेतन प्राणी की तरह आचरण और व्यवहार करते दिखाए जाने चाहिए तभी इनकी यथार्थता सजीव हो सकेगी। प्रतिपाद्य के अनुरूप यदि पात्रों का कुलशील न दिखाया गया तो कहानी में दोष मानना चाहिए। इसी तरह संवाद यदि निरर्थक पांडित्योद्घाटक

उपादान के दोष

हुए और वस्तुस्थिति के अनुरूप शैली न ग्रहण कर सके तो इसे रचना का दोष ही मानना चाहिए। पात्र के सांस्कृतिक और बौद्धिक गठन के अनुसार ही जब संवाद-तत्व का गुंफन होगा तभी वह सजीव और प्रकृत मालूम पड़ेगा। **'सालवती'** और **'पुरस्कार'** शीर्षक **प्रसाद** की कहानियों में जिस विषय पर अथवा जिस शैली और भाषा में संवाद कराए गए हैं, उसमें न तो **प्रेमचन्द** की **धनियाँ** चल सकती है और न 'जालपा'। कहानी में यदि इस तथ्य की उपेक्षा हुई तो संवाद वातावरण को सजीवता प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।

एकांगी अधिकता

कहानी के प्रधान विषय को सजीवता प्रदान करने के निमित्त जहाँ-कहीं वर्णनात्मक अंश आ जाता है वहाँ वह साधन-रूप में योग देने का काम अच्छा कर सकता है, पर उसकी मात्रा यदि आवश्यकता से अधिक हुई तो पाठक के चित्त में उबास पदा कर सकती है और दोष का कारण बन जा सकती है, क्योंकि तब कहानी का तात्पर्यार्थ ही धूमिल हो उठेगा। **प्रेमचन्द** की कहानी **'दो सखियाँ'** **प्रसाद** की कहानी **'आँधी'** और **गुलेरीजी** की कहानी **'उसने कहा था'** में अवांछित-विस्तार कुछ बुरी तरह उभड़ गया है। इनमें वर्णनात्मक अंशों की यदि थोड़ी कमी करदी गई होती तो उक्त कहानियों में प्रभाव की समष्टि और भी अधिक घनी होती, फिर भी इन रचनाओं में सीमा का अतिक्रमण जो अधिक खटकता नहीं, उसका कारण है विषय की सरसता। इस तरह की स्थिति यदि किसी रुक्ष इतिवृत्तात्मक कहानी में आए तो फिर उसे दोष ही मानना चाहिए। कहानी में सांकेतिक एकांगिता के साथ यदि काव्य-तत्व भी अधिक प्रबल हो उठे तो वह कहानी न होकर गद्य-काव्य हो जा सकती है। इसमें शैली की भिन्नरूपता भले ही हो लेकिन कहानी सर्वग्राह्य नहीं हो सकती, जैसे—**चंडी प्रसाद 'हृदयेश'** के **'नन्दन-निकुंज'** की कहानियाँ हैं। उनमें तथ्य-प्रतिपादन इतने उग्र रूप में और काव्यात्मक ढंग से हुआ है कि कहानी-तत्व ही बाधित मालूम पड़ता है। इस प्रकार की अन्य एकांगी

वृत्तियाँ जितनी भी होंगी वे कहानी के लिए सामान्यतः अरुचिकर हो जायंगी।

इन रचना-विधान-सम्बन्धी दोषों के अतिरिक्त कहानी में मुख्य दोष की बातें दो होती हैं—संवेदनात्मक चुभन की कमी और बौद्धिकता का अतिरेक। कहानी में प्रति-

चुभन की कमी

पाद्य तक पहुँचने की दौड़ इतनी तीव्र गति की होती है कि उसमें एक नुकीलापन पैदा हो जाता है, इसके कारण कहानी से ध्वनित होनेवाली संवेदना सूई की तरह नुकीली हो उठती है। उसके तीखेपन का अनुभव पाठक जितना अधिक करेगा उतनी ही कहानी की सफलता मानी जाएगी। कहने का तात्पर्य यह कि कहानी के माध्यम से यदि चित्त आंदोलित नहीं होता अथवा बुद्धि झंकृत नहीं होती तो कहानी का मूल ही समाप्त हो गया समझिए। कहानी में विषय नुकीला बनाकर इस प्रकार सामने लाया जाता है कि पढ़नेवाले का चित्त आबिद्ध हो जाय, यदि इस विशेषता का अभाव कहानी में दिखाई पड़े तो बड़े दोष की बात समझनी चाहिए।

कहानी का उद्देश्य और लक्ष्य है कि जीवन और जगत् को इस शैली से सामने ले आए कि सरलता से चित्त प्रभावित हो उठे। यदि इस शैली में अथवा कहानी के विषय-

बौद्धिकता का अतिरेक

प्रसार में ही कुछ दुरूहता ऐसी होगी कि बिना विशेष प्रकार के बौद्धिक ऊपापोह की बात ही न समझ में आए तब तो सारी कहानी अंधकाराच्छन्न हो उठेगी और लक्ष्य-विहीन हो जायगी। दूसरे ढंग से यदि यही बात कहनी हो तो कहा जायगा कि कहानी में कथन का सीधापन होना चाहिए और उसका विषय सर्व-सामान्य रूप में उपस्थित किया जाना चाहिए। यदि विषय ही अपने में इतना जटिल हुआ कि बिना किसी प्रकार के वैशेषिक ज्ञान का बल लिए काम नहीं चल सकता, तब तो जन-साहित्य के अन्तर्गत कहानी को स्थान मिलने में भारी

आपत्ति हो जाएगी। 'अज्ञेय' के 'जय दोल' कहानी-संग्रह में इस कोटि की कहानियाँ अनेक मिलेंगी। उसकी दूसरी कहानी 'साँप' है। उसे उदाहरण रूप में लीजिए। उसमें कथा की गति घुमावदार है और जबतक पाठक मनोविज्ञान की कुछ साधारण शास्त्रीय बातें नहीं जानेगा और जब तक यौन-प्रेम से साँप की प्रतीकात्मकता की संगति का बोध उसे न होगा तब तक वह कहानी के मर्म तक पहुँच नहीं सकता। ऐसी स्थिति में ये रचनाएँ दुरूह शैली में लिखी शास्त्रीय बातें मानी जायंगी। यहाँ ऐसा मालूम होता है मानो किसी तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए किसी उदाहरण के रूप में यह कृति उपस्थित की गई हो। अतएव इस प्रकार की सूक्ष्म बौद्धिकता को कहानी में वर्ज्य मानना चाहिए।

परिशिष्ट

(क)

बोध-विश्लेषण

वातावरण-प्रधान कहानी

गैंग्रीन

[अज्ञेय]

दोपहर में उस सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उस के वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था....

स्थानीय वातावरण के भीतर जीवन-चित्रण के साथ ही विषय का आरम्भ।

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देख कर, पहचान कर उस की मुरझाई हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उस के पीछे हो लिया।

वातावरण ही की ध्वनि-वहन करने-वाले मानव-रूप की अवतारणा। उसके 'आ जाओ' की 'मुरझाई' पर गम्भीर तात्पर्य-वृत्ति 'मीठे-विस्मय' को भी दबा देती है।

भीतर पहुँच कर मैंने पूछा, "वे यहाँ नहीं है?'

"अभी आये नहीं, दफ्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जायेंगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं।"

"कब के गये हुए हैं?"

"सबेरे उठते ही चले जाते हैं?"

मैं "हूँ" कह कर पूछने को हुआ, "और तुम इतनी देर क्या करती हो?" पर पर फिर सोचा आते ही एकाएक प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

वातावरण-विषयक मूल कारण का संकेत।

मालती एक पंखा उठा लायी, और और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा 'नहीं, मुझे नहीं चाहिए।' पर वह नहीं मानी, बोली, "वाह। चाहिए कैसे नहीं? इतनी धूप में तो आये हो। यहां तो....."

'यहाँ तो' कहकर रुकने की ध्वनि ने विषय पर गंभीरतर आच्छादन दे दिया।

मैंने कहा, "अच्छा लाओ मुझे दे दो।

वह शायद 'ना' करने वाली थी, पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आ आवाज़ सुन कर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेक कर एक थकी हुई 'हुँह' कर के उठी और भीतर चली गयी।

'थकी हुई' उस व्यापक सूनेपन में जीवन डाल दिया है। एक भारवत् उबास व्याप्त दिखाई पड़ती है। वातावरण का रहस्य अर्धस्फुट रूप धारण करता है।

मैं उस के जाते हुए, दुबले शरीर को देखकर सोचता रहा—यह क्या है...

यह कैसी छाया-सी इस घर पर छायी हुई है....

"छाया-सी छायी" ने आरम्भिक शाप की छाया को स्पष्ट कर दिया।

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है, हम बचपन से इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी-भ्रातृत्व के, या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा....

शापित के प्रति सहानुभूति का कारण साहचर्य जनित माधुर्य-भाव है। मधुर संबंध के आधार पर वातावरण की सजीवता का अनुभूत बोध।

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इस से पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी, अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था, किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छायी हुई है.... और वशेषतया मालती पर.....

वातावरण के प्रभाव को निरंतर अन्वित किया जा रहा है।

मालती बच्चे को लेकर लौट आयी और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गयी, मैंने अपनी कुर्सी घुमाकर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा, "इसका नाम क्या है ?"

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी, टिटी, आजा" पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा "उहुँ-उहुँ-उहुँ-ऊँ....."

मालती ने फिर उसकी ओर एक नजर देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी....

आँगन की ओर देखने में मालती अपनी किस्मत की मार की बात कह रही है। विवशता भरी जीवन की उबास को गहरा रंग दिया जा रहा है।

काफी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे, किन्तु उसके बाद एका एक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की....यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ....चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वह बीते दिन भूल गयी? या अब मुझे दूर—, इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती....पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिये....

वातावरण के उद्भूत कुतूहल की स्थापना।

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं

उसने एकाएक चौंक कर कहा, "हूँ ?"

यह 'हुँ' प्रश्न-सूचक था किन्तु इस लिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इस लिए मैंने अपनी बात दुहरायी नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा, वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा, उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायु मंडल को पुनः जगा कर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा.... वैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाये हुए अंग को व्यक्ति एका-एक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिरविस्मृति में मानों मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता.... मुझे ऐसा जान

पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये.....

जीवन की विवशता से आक्रान्त उबास का संवेदनशील रूप।

तभी किसी ने किबाड़ खटखटाये मैंने मालती की ओर देखा; पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशु को अलग कर के उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आये, मैंने उन्हें पहली बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गयी। और हम दोनों भीतर बैठकर बात-चीत करने लगे, उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में, और ऐसे अन्य विषयों के बारे में जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बन कर...

कहानी की गति को जीवन देनेवाले इतिवृत्त का प्रसार होता है।

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वह एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेन्सरी के डाक्टर हैं, उसी हैसियत से इन क्वार्टरों में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेन्सरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं, उसके

बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घंटे फिर चक्कर लगाने के लिये जाते हैं, डिस्पेन्सरी के साथ के छोटे से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य जरूरी हिदायतें करने....उनका जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ वह स्वयं उकताये हुये हैं, और इसलिये साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वह अपने फुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं....

वही उबास महेश्वर की दिनचर्या में भी भरी हुई है।

मालती हम दोनों के लिये खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नहीं खाओगी? या खा चुकी?"

महेश्वर बोले, कुछ हंसकर, "वह पीछे खाया करती है...."

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इसलिये पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

विवशता का रहस्य-कथन

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले, "आप को तो खाने का मजा ही क्या आयेगा, ऐसे बेवक्त खा रहे हैं?"

मैंने उत्तर दिया, "वाह। देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है,

व्यावहारिक संवाद

भूख बढ़ी हुई होती है, पर शायद मालती बहन को कष्ट होगा।"

मालती टोक कर बोली, "ऊँहु, मेरे लिए तो यह नई बात नहीं है—रोज ही ऐसा होता है.."

'रोज' कहानी के शीर्षक का कारण।

मालती बच्चे को गोद में लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उस की ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

वातावरण का मानवीय भावनाओं पर भी प्रभाव छाया है।

मैंने कहा... "यह रोता क्यों है ?"

मालती बोली, "हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चे को डाँट कर कहा, "चुप कर।" जिस से वह और भी रोने लगा, मालती ने भूमि पर बैठा दिया और बोली... "अच्छा ले, रोले।" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गयी।

कोमल बच्चे पर भी वातावरण की छाया।

'अच्छा ले रो ले' में भी जीवन की सूखी थकान व्यंजित है।

जब हमने भोजन समाप्त किया तब तीन बजने वाले थे, महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक दो चिन्ताजनक केस आये हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा....दो की शायद टाँग काटनी पड़ें, गैंग्रीन हो गया है....थोड़ी ही देर में वह चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब

'गैंग्रीन' कहानी के शीर्षक का कारण। लाक्षणिक अर्थ में प्रश्न यह है कि 'गैंग्रीन' चिंताजनक रूपमें अस्पताल में है कि इस घर में।

खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है," किन्तु चली गयी । मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया ।

दूर....शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के । एकाएक मैं चौंका, मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी अपने आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है, "तीन बज गये..." मानो बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो....

'तीन बज गए' की ध्वनि कह रही है कि 'इस जीवन की एक-एक घड़ी उसके लिए पहाड़ बन गई है।'

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गयी, मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो...."

"बहुत था ।"

"हाँ, बहुत था, भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रौब तो न जमाओ कि बहुत था ।" मैंने हँसकर कहा ।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई बोली, "यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं, मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाये थे वही अभी बरती जा रही है..."

मैंने पूछा, "नौकर कोई नहीं है ?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।"

"बर्तन भी तो तुम्हीं मांजती हो।"

"और कौन ?" कह कर मालती क्षण भर आँगन में जा कर लौट आयी।

मैंने पूछा, "कहाँ गयी थीं ?"

"आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मँजेंगे ?"

'क्यों पानी को क्या हुआ ?"

"रोज ही होता है....कभी वक्त पर तो आता नहीं, आज शाम को सात बजे आयेगा, तब बर्तन मँजेंगे।"

"चलो तुम्हें सात बजे तक तो छुट्टी हुई" कहते हुए मैं मन ही मन सोचने लगा, "अब तो इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई ?"

योगवाही कई परिस्थितियों के क्रमिक सजावट ने जीवन के उबास को अनुप्राणित कर दिया है।

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था; पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा, मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा, तब मालती को याद आया कि

उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आये कैसे ?"

अपनी मानसिक क्रान्ति के कारण मालती में व्यवहार-विस्मृति।

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया ? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने ?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न ?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।"

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गयी। मैं फिर नोटबुक की तरफ देखने लगा।

'कुछ खिन्न हो गई, क्योंकि निहायत सूक्ष्म-सा अवलंब भी सहारा नहीं लेने देता। स्थिति वातावरण पर रंग चढ़ाती जा रही है।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ, पर बात भी क्या की जाय ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रह कर भी मानो मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती....

लेखक चित्रित वतावरण को 'नीरस निर्जीव-सा' कह कर अपने चित्र में उसकी स्पष्ट स्थापना कर रहा है।

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं ?" मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

"यहाँ !" कह कर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी, 'यहाँ पढ़ने को है क्या ?'

मैंने कहा, "अच्छा, मैं वापस जा कर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा...." और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया...

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा, "आये कैसे हो, लारी में ?"

"पैदल ।"

"इतनी दूर ! बड़ी हिम्मतकी ।"

"आखिर तुमसे मिलने आया हूँ ।"

"ऐसे ही आये हो ?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैंने सोचा, बिस्तरा ले ही चलूँ ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो बस...." कह कर मालती चुप रह गयी, फिर बोली, "तब तुम थके होगे, लेट जाओ ।'

'यहाँ तो बस'—सब शून्य है; यहाँ धरा ही क्या है ?

"नहीं, बिल्कुल नहीं थका ।"

"रहने भी दो, थके नहीं, भला थके हैं ?"

"और तुम क्या करोगी ?"

"मैं बर्तन माँज रखती हूँ, पानी आयेगा तो धुल जाँयगे ।"

मैंने कहा, "वाह !" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं....

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गयी, टिटी को साथ ले कर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा....मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बर्तनों के घिसने

की खन-खन की ध्वनि मिल कर एक विचित्र एकस्वर उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा....

एकाएक वह एक स्वर टूट गया... मौन हो गया। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा....

चार खड़क रहे थे और इसी का पहला घंटा सुन कर मालती रुक गयी थी....

वही तीन बजे वाली बात मैंने फिर देखी, अब की बार और भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्र की भाँति स्वर में कह रही है, "चार बज गये...." मानों इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने में ही उस का मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यन्त्रवत् फासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वर में कहता है: (किस से!) कि मैंने अपने अमित शून्यपथ का इतना अंश तय कर लिया....

चलो एक घंटा और खत्म हुआ 'अमित शून्यपथ का इतना अंश' और समाप्त हो गया।

न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गयी....

तब छः कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी

नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने को ही था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा, "आपने बड़ी देर की।"

उन्होंने किंचित ग्लानि भरे स्वर में कहा, "हाँ, आज वह गैंग्रीन का आपरेशन करना ही पड़ा, एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा, "गैंग्रीन कैसे हो गया ?"

"एक काँटा चुभा था, उसीसे हो गया, बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के....."

यह 'काँटा' मालती के जीवन में तब लगा था जब उसका महेश्वर के साथ विवाह हुआ था, आज वह बढ़कर गैंग्रीन हो गया है।

मैंने पूछा, "यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते हैं ? आय के लिहाज से नहीं, डाक्टरी के अभ्यास के लिये ?"

बोले, "हाँ, मिल ही जाते हैं, यही गैंग्रीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक कैस आ जाता है, नीचे बड़े अस्पतालों में भी...."

मालती आँगन में ही सुन रही थी, अब आ गयी, बोली, "हाँ केस बनाते देर क्या लगती है ? काँटा चुभा था, इस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डाक्टरी है ? हर दूसरे दिन किसी की

टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास !"

महेश्वर हँसे, बोले, "न काटें तो उस की जान गवायें ?"

"हाँ, पहले तो दुनियाँ में काँटे ही नहीं होंगे। आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हों..."

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिये, मालती मेरी ओर देख कर बोली, "ऐसे ही होते हैं डाक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज ही ऐसी बातें सुनती हूं। अब कोई मर-मुर जाय तो ख्याल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी।"

सामान्य व्यवहार के संवाद।

उबास की पृष्ठ-भूमि।

तभी आँगन में खुले हुए नल ने नल ने कहा...टिप, टिप, टिप, टिप-टिप, टिप...

मालती ने कहा, "पानी" और उठ कर चली गयी। खन-खनाहट से हमने जाना, बर्तन धोये जाने लगे हैं.....

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था, अब एकाएक उन्हें छोड़ कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा, "उधर मत जा !" और उसे गोद में उठा लिया, वह मचलने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

महेश्वर बोले..."अब रो-रो कर सो जायगा, तभी घर में चैन होगी।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं? गर्मी तो बहुत होती है?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहे के पलंग उठा कर बाहर कौन ले जाये? अब के नीचे जायेंगे तो चारपाइयाँ ले आयेंगे।" फिर कुछ रुककर बोले, "आज तो बाहर ही सोयेंगे। आपके आने का इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलँग पर बिठा दिया और पलंग बाहर खींचने लगे, मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ," और दूसरी ओर से पलँग उठा कर निकलवा दिये।

अब हम तीनों...महेश्वर, टिटि और मैं दो पलँगों पर बैठ गये और वार्तालाप के लिये उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छुपाने के लिये टिटि से खेलने लगे, बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद कर रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था...और कभी-कभी हम हँस पड़ते थे या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे...

सामान्य इतिवृत्त-कथन, आरोप अथवा बनावटीपन न उभड़े इस अभिप्राय से।

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली तब महेश्वर ने कहा, "थोड़े से आम लाया हू, वह भी धो लेना।"

"कहाँ हैं?"

"अँगीठी पर रखे हैं, कागज में लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचल में डाल लिये। जिस कागज में वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी... वह नल के पास जा खड़ी हो उसे पढ़ती रही, जब दोनों पढ़ चुकी, तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फाड़ कर आम धोने लगी।

अखबार से भी लम्बी साँस के लिए ही मसाला मिला।

मुझे एकाएक याद आया... बहुत दिनों की बात थी... जब हम अभी स्कूल में भर्ती हुए ही थे। जब हमारा सबसे बड़ा सुख, सब से बड़ी विजय थी हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूरी पर आम के बगीचे में पेड़ों पर चढ़ कर कच्ची आमियाँ तोड़-तोड़ खाना। मुझे याद आया... कभी मैं भाग आता और मालती नहीं आ पाती

थी तब मैं भी खिन्न मन लौट आया करता था...

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तँग थे, एक दिन उस के पिता नउसे एक पुस्तक ला कर दी और कहा कि इस के बीस पेज रोज पढ़ा करो, हफ़्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी ? वह नित्य ही उसके दस पन्ने बीस पेज, फाड़ कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भाँति फर्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली ?" तो उत्तर दिया..."हाँ, कर ली।" पिता ने कहा। "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा" तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली, "किताब मैंने फाड़ कर फेंक दी है, म नहीं पढ़ूँगी।"

उस के बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है... इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गई है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है...यह क्या, यह...

तभी महेश्वर ने पूछा, "रोटी कब बनेगी ?"

परिस्थिति-निवेदन। प्राचीन स्मृति।

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी, वह मालती की ओर हाथ बढ़ा कर रोने लगा और नहीं माना, मालती उसे भी गोद में लेकर चली गई, रसोई में बैठ कर एकहाथ से उसे थपकन और दूसरे से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी...

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तरों पर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती उसे पलंग के एक ओर मोम-जामा बिछा कर उसे उस पर लिटा गई थी। वह सो गया था, पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठ कर बठ गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा..."आप तो थके होंगे, सो जाइये।"

वे बोले, "थके तो आप अधिक होंगे...अट्ठारह मील पैदल चल कर आये हैं। "किन्तु उन के स्वर ने मानो जोड़ दिया..."थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप रहा, थोड़ी देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे, थे,मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में—यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं, लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी, फिर मैं इधर-उधर खिसक कर, पलंग पर आराम से हो कर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी, आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा, उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगने वाली स्लेट की छत भी चाँदनी में चमक रही है, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही है, मानो चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो...

मैंने देखा, पवन में चीड़ के वृक्ष... गर्मी से सूख कर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष...धीरे-धीरे गा रहे हों...कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं, अशान्तिप्रिय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं...

मैंने देखा, प्रकाश से धुंधले नील आकाश के पट पर जो चमगादड़ नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं...

स्थानीय चित्रांकन के उपादान।

मैंने देखा...दिन भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप से उठ कर वातावरण में खोये जा रहे हैं, जिसे ग्रहण करने के लिये पर्वत शिशुओं ने अपनी चीड़ वृक्ष रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं...

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने...महेश्वर ऊँघ रहे थे और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर दही ज़माने के लिये मिट्टी का बर्तन गर्म पानी से धो रही थी, और कह रही थी..."अभी छुट्टी हुई जाती है," और मेरे कहने पर ही कि "ग्यारह बजने वाले हैं," धीरे से सिर हिला कर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं...मालती ने वह सब कुछ नहीं देखा, मालती का जीवन अपनी रोज की नियत गति बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिये एक संसार के सौन्दर्य के लिये, रुकने को तैयार नहीं था...

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित वामता से उठा और खिसक कर पलंग से नीचे गिर पड़ा और चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा। महेश्वर ने चौंक कर कहा..."क्या हुआ ?" मैं झपट कर उसे उठाने दौड़ा, मालती

वातावरण को अधिकाधिक मुखर करने के अभिप्राय से एक घटना का योग लिया गया है। घटना के माध्यम से उसे गति प्रदान की गई है और उसका रंग उभड़ कर अन्तर्व्यापी प्रभाव उत्पन्न कर रहा है।

रसोई से बाहर आयी, मैंने उस 'खट' शब्द को याद कर धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा, "चोट बहुत लग गयी बिचारे के।"

यह सब मानो एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिये हाथ बढ़ाते हुए कहा, "इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण भर के लिये मैं स्तब्ध हो गया, फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा...कहा मेरे मन ने भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला... "...माँ, युवती माँ, यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो...और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है।

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है, मैंने देखा कि सचमुच उस कुटम्ब में कोई गहरी भयंकर छाया घर कर गयी है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में

वातावरण का स्थायी और गहरा प्रभाव जीवन में इस प्रकार पड़ता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही बदल जा सकता है—मातृत्व का उत्स सूख जा सकता है और मानव की मानवता में सन्देह होने लगता है।

घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया...

वातावरण का एकत्व-विधायक बोध।

इतनी देर में, पूववत् शान्ति हो गयी थी। महेश्वर फिर लेट कर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपट कर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एकाध सिसकी उसके छोटे से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुप-चाप ऊपर आकाश में देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिका को या तारों को ?

तभी ग्यारह का घंटा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठा कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घंटा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उसने कहा, "ग्यारह बज गये..."

इस पूर्णाहुति में पहले के सब वातावरण सम्बन्धी प्रभाव अन्वित होकर एक हो उठते हैं।

आकाश दीप

[जयशंकर प्रसाद]

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो ।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो ।"

"फिर अवसर न मिलेगा ।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डाल कर कोई शीत से मुक्त करता ।"

"आँधी की सम्भावना है । यही अवसर है । आज मेरे बंधन शिथिल है ।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं ।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

नाटकीय समारम्भ । संवादों का लघु-विस्तारी रूप स्थिति की गम्भीरता उद्घाटित कर रहा है । 'बन्दी' और 'मुक्त होना चाहते हो ?' से आकर्षण और जिज्ञासा जग उठती है ।

परिस्थिति और स्थान का संकेत ।

वर्गगत सहानुभूति और मैत्री की संभावना मुकुलित होती है ।

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

प्रथम परिच्छेद अथवा परिवेश के भीतर का ऐकांतिक लक्ष्य।

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बंदी आपस में टकराने लगे। पहले बंदी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बंधन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा—स्नेह का असम्भावित आलिंगन। दोनों ही अंधकार में मुक्त हो गये। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से, उसको गले से लगा लिया सहसा उस बंदी ने कहा—"यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

परिस्थिति का अधिक स्पष्ट बोध।

कुतूहल का विकास।

"क्या स्त्री होना कोई पाप है ?"—अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है ? तुम्हारा नाम ?

"चम्पा।"

तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन उधम मचा रहा था। अंधकार से मिल कर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका

पीठिका की शृंगार-सज्जा।

कृपाण निकाल कर, फिर लुढ़कते हुए बन्दी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथप्रदर्शक ने चिल्ला कर कहा—

"आँधी!"

प्रकृति की पीठिका का शृंगार।

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बंदी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बंदी ढुलक कर उस रज्जु के पास पहुँचा जो पोत से संलग्न थी। तारे ढंक गये। तरंगे उद्वेलित हुई, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कन्दुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतंत्र थी। उस संकट में भी दोनों बंदी खिलखिला कर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

प्रथम परिच्छेद के खण्ड-लक्ष्य की सिद्धि से विषय की समाप्ति। कथानक की पहली मंजिल पूरी होती है और आरंभ की यह सफलता कहानी के प्रतिपाद्य की अच्छी प्ररोचना है।

२

अनंत जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शांत था। नाविकोंने देखा, पोत का पता नहीं। बंदी मुक्त हैं।

रंगमंच के प्रयोग में आनेवाले पर्दे की तरह एक दृश्य-विवरण का सफल विधान और परिस्थिति का बोध।

नायक ने कहा—बुद्धगुप्त! तुम को मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखा कर बुद्धगुप्त ने कहा—"इसने ।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बंदी बनाऊँगा ।"

"किस के लिये ? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा—नायक ! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ ।"

"तुम ? जलदस्यु बुद्धगुप्त ? कदापि नहीं ।"—चौंक कर नायक ने कहा और अपना कृपाण टटोलने लगा । चम्पा ने इससे पहले उसपर अधिकार कर लिया था । वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्वयुद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाओ; जो विजयी होगा, वही स्वामी होगा ।"—इतना कह, बुद्धगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया । चम्पा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया ।

रोमांचक कुतूहल की सृष्टि।

भीषण घात-प्रतिघात आरंभ हुआ । दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे । बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़ कर, अपने दोनों हाथ स्वतंत्र कर लिये । चम्पा, भय और विस्मय से देखने लगी । नाविक प्रसन्न हो गये । परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया । दूसरे ही

क्षण प्रभात किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उस के हाथों में चमक उठा। नायक की कायर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं।

बुद्धगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं ?"

चम्पा और बुद्धगुप्त की प्रणय-मैत्री की विकास-सूचिका।

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात न करूँगा।"

बुद्धगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-विन्दु विजय-तिलक कर रहे थे।

प्रणय और मैत्री की भावना स्थापित।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त ने पूछा—"हमलोग कहाँ होंगे ?"

देश और काल का संकेत।

"बालीद्वीप से बहुत दूर, संभवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना जाना होता है। सिंहलके वणिकोंका वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हमलोग वहाँ पहुँचेंगे ?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड़ लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार

पकड़ कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा—"यहाँ एक जलमग्न शैलखण्ड है। सावधान न रहने से नाव के टकराने का भय है।"

विरोध और द्वन्द्व ने कुतूहल जगाया। परिणाम ने विकास नाम की अवस्था को पूरा कर दिया। इस प्रकार नवीन परिवेश का मण्डल पूर्णतया मुखरित हो उठा। दूसरी मंजिल की कड़ी दृढ़ हो जाती है।

३

"तुम्हें इन लोगों ने बंदी क्यों बनाया?"

तृतीय खण्ड का संवादात्मक आरम्भ

"वणिक मणिभद्र की पाप वासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"जाह्नवी के तट पर, । चम्पा नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र में ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनधि के ऊपर, एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ। अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बन्दी बना दी गई।"—चम्पा रोष से जल रही थी।

पात्रों का परिचय और वर्तमान परिस्थिति के भीतर भविष्य का संकेत।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ चम्पा ! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी ?"

"मै अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।"—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेशमें निरुद्देश्य थीं, किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपाङ्ग म बालकों के सदृश्य विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी राग-रंजित संध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दान्त दस्युने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण-बालिका ! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी—कोमलता !

प्रणय-मैत्री का बंधन रंगीन हो रहा है। भविष्य का पूर्ण रूप यहाँ गठित हो रहा है।

उसी समय नायक ने कहा—"हमलोग द्वीप के पास पहुँच गये।"

वेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुद्धगुप्त ने कहा—"जब इसका कोई नाम नहीं है तो हमलोग इसे चम्पा द्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

४

पाँच बरस बाद—

परिच्छेद के आरंभ में काल के व्यवधान का शाब्दी कथन।

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र के उज्ज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरद्लक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

प्रकृति-रंग-पटी की स्थापना

चम्पा के एक उच्च सौध पर बैठी हुई तरुणी दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मञ्जूषा में दीप धर कर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिलमिल जाय; किन्तु ऐसा होना असंभव था। उसने आशा भरी आँखें फिरा लीं।

परिवेश की सजावट

सामने जलराशि का रजत शृंगार था। वरुण बालिकाओं के लिये लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैलमालायें बना रही थीं। और वे मायाविनी छलनायें अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों की वंशी की झनकार उनके संगीत-सा मुखरित

प्रकृति-विधान के द्वारा पीठिका की सज्जा।

होता था। चम्पा ने देखा कि तरल संकुल जल-राशि में उसके कंडील का प्रति-विम्ब अस्तव्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई, किसी को पास न देख कर पुकारा "जया !"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभोमण्डल-से मुख में शुभ्र नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दांत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती; बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।"—चम्पा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चम्पा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कहा—"बुद्धगुप्त !"

भाव की स्थापना के अनुकूल आसन बिछाया जा रहा है।

"बावली हो क्या? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?"

भावात्मक संवादों से कथा का विस्तार-भार हल्का हो रहा है और आन्तरिक भावनाओं का भी उद्घाटन हो रहा है।

"क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिये क्या दासियों से आकाश-दीप जलाऊँ?"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो ? उसको, जिसको तुमने भगवान मान लिया है ?"

"हाँ वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते ?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पारानी !"

"मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक ! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है,जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लाद कर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी अलोकमय प्रभात में—तारिकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी। बुद्धगुप्त ! उस विजन अनन्त में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम तुम परिश्रम से थक कर पालों में शरीर लपेट कर एक दूसरे का मुंह क्यों देखते थे। वह नक्षत्रों की मधुर छाया—"

आन्तरिक विवरण कथानक की रीढ़ को बल प्रदान कर रहा है।

"तो चम्पा ! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं नहीं, तुमने दस्युवृत्ति तो छोड़ दी परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान के नाम पर हँसी उड़ाते हो! मेरे आकाश-दीप पर व्यंग कर रहे हो। नाविक! उस प्रचण्ड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिये हम लोग कितने व्याकुल थे। स्मरण है, जब मैं छोटी थी मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में जला कर भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती—"भगवान! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना।" और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते—"साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक संकटों में मेरी रक्षा की है।" वह गद्‌गद हो जाती। मेरी माँ! आह नाविक! यह उसी की पुण्यस्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु! हट जाओ।"—सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठा कर हँस पड़ा।

चम्पा के चरित्र की दृढ़ता के मूल में ईश्वरी विधान पर आस्था और श्रद्धा है।

परिवर्तन की आन्तरिक दृढ़ भित्ति।

"यह क्या चम्पा ? तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो ।"—कहता हुआ चला गया । चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही ।

महानाविक की उदार सहनशक्ति के मूल में प्रणय-प्रणति का रूप संश्लिष्ट है । प्राप्ति की आशा में गति चल रही है—इसका संकेत देकर परिच्छेद समाप्त हो रहा है ।

५

निर्जन समुद्र के उपकूल में बेला से टकरा कर लहरें बिखर जाती हैं । पश्चिम का पथिक थक गया था । उसका मुख पीला पड़ गया । अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था । वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था ।

नूतन नाटकीय दृश्य-विधान प्राकृतिक वस्तुस्थिति पर आधारित, समुद्र के उदास वातावरण में चम्पा की मन:स्थिति ध्वनित ।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आ कर खड़ी हो गईं । तरंग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया । जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई । दोनों के उस पैर बैठते ही नाविक उतर गया । जया नाव खेने लगी । चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी ।

"इतना जल ! इतनी शीतलता ! हृदय की प्यास न बुझी । पी सकूँगी ? नहीं । तो जैसे बेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनन्त जल में डूब कर बुझ जाऊँ ?"—चम्पा के देखते-देखते

चम्पा की अंतरपटी पर छाए उद्वेग की विवृति ।

पीड़ा और जलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में, चौथाई—आधा, फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फिरा लिया। देखा तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुद्धगुप्त ने झुक कर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास बैठ गये।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैलखण्ड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा, तो ?"

वैदग्ध्यपूर्ण भावात्मक संवाद से कथा-भाग क्रमशः आगे बढ़ता जा रहा है।

"अच्छा होता बुद्धगुप्त ! जल में बन्दी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है !"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो ! बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिये नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो....। कहो चम्पा ! वह कृपाण से अपना हृदय-पिण्ड निकाल अपने हाथों अतलजल में विसर्जन कर दे !"—महानाविक—जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूंजता था—घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

महानाविक का, प्रणय की बिनति से, आत्म-समर्पण—चम्पा का हार्दिक उद्वेग शमित अथवा संतुलित हो, इस अभिप्राय से।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल-प्रदेश में नील पिङ्गल संध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये। वहाँ एक आलिङ्गन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का। किन्तु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी चञ्चुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"—चमक कर वह कृपाण समुद्र का हृदय वेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ? मैं क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य-कम्पित कण्ठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास? कदापि नहीं बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसीने धोखा दिया, तब

प्रणय की शीतलता की ध्वनि वहन करती हुई प्रकृति।

प्रणय प्रतिध्वनित हो उठता है।

प्रकृति पटी से चम्पा के आन्तरिक भाव-परिवर्तन का रूप ध्वनित हो रहा है। विक्षेप के स्थान पर प्रणय-भावना का उदय और भाव-द्वन्द्व का मूल स्थल उभाड़ा गया है। चरम-उत्कर्ष की यथार्थ भूमि—यही स्थल है।

मैं कैसे कहूँ !' मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ । अन्धेर है जलदस्यु ! तुम्हें प्यार करती हूँ !"—चम्पा रो पड़ी ।

पिता का प्रतिशोध और प्रिय के प्रति प्रणय-भावना का संघर्ष उपस्थित ।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तम से अपनी आँख बन्द करने लगी थी । दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा चम्पा ! यहीं उस पहाड़ी पर । सम्भव है कि मेरे जीवन की धुंधली संध्या उससे आलोक पूर्ण हो जाय !"

प्रणय-विषयक प्राप्त्याशा के उत्कर्ष से परिच्छेद समाप्त ।

६

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी । बहुत दूर तक सिन्धु-जल में निमग्न थी । सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था । आज उसी शैलमाला पर चम्पा के आदि-निवासियों का समारोह था । उन सबों ने चम्पा को वनदेवी-सा सजाया था । ताम्रलिप्ति के बहुत से सैनिक और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम विभूषिता चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी ।

नए परिवेश अथवा परिच्छेद की अवतारणा—नूतन स्थान एवं स्थिति के कथन से ।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिये सुदृढ़ दीप-स्तम्भ बनवाया गया था ।

प्रणय का प्रतीक स्तम्भ स्थापित

आज उसी का महोत्सव है। बुद्धगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम भूषण से सजी वन-बालायें फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

समीप भविष्य की मधुर स्थिति की पीठिका।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से, यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा —"यह क्या है जया! इतनी बालिकायें कहाँ से बटोर लाई?"

"आज रानी का ब्याह है न?"—कहकर जया ने हँस दिया।

बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोरकर चम्पा ने पूछा—"क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है चम्पा! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाये हूँ।"

"चुप रहो महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा। वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती बुद्धगुप्त वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय ! आह ! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते !"

जया नीचे चली गई थी । स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्धगुप्त और चम्पा एकान्त में एक दूसरे के सामने बैठे थे ।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिये । उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—"चम्पा ! हम लोग जन्मभूमि-भारतवर्ष से कितनी दूर इस निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं । पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किये है । स्मरण होता है कि दार्शनिकों का देश ! वह महिमा की प्रतिमा ! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता ? जानती हो, इतना महत्व प्राप्त करने पर भी मैं कङ्गाल हूँ । मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्त-मणि की तरह द्रवित हुआ ।

"चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता । पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है ।

निगति का संदेश । चरम उत्कर्ष की ऊँची भूमि से कहानी की गति उतार की ओर चल रही है । कुतूहल पूर्णतया उद्बुद्ध है, अतएव तीव्र गति से अनुमान दौड़ रहा है ।

तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़ तम में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हँसी खिल-खिलाने लगी; पर मैं न हँस सका।

"चलोगी चम्पा! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राज-रानी-सी जन्मभूमि के अंक में? आज हमारा परिणय हो, कल ही हमलोग भारत के लिये प्रस्थान करें। महानाविक बुद्ध-गुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुञ्ज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा! चलो!"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये। किसी आकस्मिक झटके ने एक पल भर के लिये दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा— "बुद्धगुप्त! मेरे लिये सब भूमि मिट्टी हैं; सब जल तरल हैं; सब पवन शीतल हैं। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिये एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिये, और मुझे छोड़ दो इस निरीह भोले-भाले

अब तक की समस्त भावानुभूतियों की अन्विति और कहानी की पूर्णाहुति। एक विद्युत्-आलोक की भाँति 'हाँ' और 'ना' एक साँस ही में चमक उठते हैं।

प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिये।"

भाव-द्वन्द्व उत्सर्गमय हो उठा।

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चम्पा! यहाँ रह कर अपने हृदय पर अधिकार रख सकूंगा—इसमें संदेह है। आह! किन लहरों में मेरा विनाश हो जाय!"—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी?"

"पहले विचार था कि कभी-कभी इसी दीप-स्तम्भ पर से आलोक जला-कर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।"

भाव द्वन्द्व की निष्पत्ति। चारित्रिक दृढ़ता की पूर्णता। 'पिता की समाधि' और 'जलना होगा' में पिता के प्रति निष्ठा और प्रणय-सिद्धि पूर्णतः व्यक्त है। कला की दृष्टि से कहानी इसी स्थल पर समाप्त होनी चाहिए।

७

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़ कर पश्चिम-उत्तर की ओर महा जल-व्याल के समान सन्तरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

कहानी का यह खण्ड अतिरिक्त पूर्णता का द्योतक होने से निरुद्देश्य और निरर्थक है।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आ-जीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती ही रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, द्वीप-

निवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश उसकी पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया।

---×---

सारांश--इस कहानी में नाटक के मूल तत्वों का पूरा योग है --सौन्दर्य का प्रधान कारण यही है। भिन्न-भिन्न परिच्छेदों के भीतर एक-एक परिवेश की समग्रता खिली मिलती है। प्रत्येक परिच्छेद अथवा कहानी के खंडांशों की अवतारणा नए-नए प्राकृतिक दृश्यों के भीतर होती है जैसे रंगमंच पर नए अंकों के साथ दृश्य-विधान भी परिवर्तित हो जाते हैं। संवादात्मक वैदग्ध्य से भी नाटकीय सौन्दर्य सिद्ध हुआ है। संवादात्मक आरम्भ और अंत के कारण स्थिति नाटक की-सी दिखाई पड़ती है। क्रिया-वेग और अन्तर्द्वन्द्व के विचार से तो कहानी में नाटकत्व पूर्ण है।

इतिवृत्तात्मक कहानी

ईदगाह

[प्रेमचन्द]

रमजान के पूरे तीस रोज़ों के बाद आज ईद आयी है। कितना मनोहर, कितना सुहावना प्रभात है। वृक्षों पर कुछ अजीब हरियाली है, खेतों में कुछ अजीब रौनक है, आसमान पर कुछ अजीब लालिमा है। आज का सूर्य देखो, कितना प्यारा, कितना शीतल है, मानो संसार को ईद की बधाई दे रहा है। गाँव में कितनी हलचल है। ईदगाह जाने की तैयारियाँ हो रही हैं। किसी के कुरते में बटन नहीं है। पड़ोस के घर से सुई-तागा लेने दौड़ा जा रहा है। किसी के जूते कड़े हो गये हैं, उनमें तेल डालने के लिए तेली के घर भागा जाता है। जल्दी-जल्दी बैलों को सानी-पानी

'ईद आई है' इसलिए प्रकृति एवं मानव में जो समान रूप से उत्साह भरा मिलता है उसी के ब्यौरेवार वर्णन से कहानी का आरम्भ। इतिवृत्तात्मक कहानी होने के कारण आरम्भ विवरणात्मक। अपने-अपने ढंग से आबालवृद्ध में ईद के कारण विशेष प्रकार की चहल-पहल। कैसी-कैसी तैयारियाँ हैं।

दे दें। ईदगाह से लौटते-लौटते दोपहर हो जायेगा। तीन कोस का पैदल रास्ता फिर सैकड़ों आदमियों से मिलना-भेंटना। दोपहर के पहले लौटना असंभव है। लड़के सबसे ज्यादा प्रसन्न हैं। किसी ने एक रोजा रखा है, वह भी दोपहर तक, किसी ने वह भी नहीं; लेकिन ईदगाह जाने की खुशी उनके हिस्से की चीज है। रोजे बड़े-बूढ़ों के लिये होंगे। इनके लिये तो ईद है। रोज ईद का नाम रटते थे। आज वह आ गयी। अब जल्दी पड़ी है कि लोग ईदगाह क्यों नहीं चलते इन्हें गृहस्थी की चिन्ताओं से क्या प्रयोजन! सेवैयों के लिए दूध और शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवैयाँ खायँगे। वह क्या जानें कि कि अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायमअली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाय। उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना खजाना निकालकर गिनते हैं और खुश होकर फिर रख लेते हैं। महमूद गिनता है, एक-दो, दस-बारह! उसके पास बारह पैसे हैं। मोहसिन के पास एक, दो, तीन, आठ, नौ, पन्द्रह पैसे हैं। इन्हीं अन-

बाल-मनोदशा का प्रकृत रूप बालकों में से ही एक को उभाड़ता है, इसलिए उस क्षेत्र की सूक्ष्मता का विवरण देना आवश्यक।

गिनती पैसों में अनगिनती चीजें लायेंगे—खिलौने, मिठाइयाँ, बिगुल, गेंद और जाने क्या-क्या। और सबसे ज्यादा प्रसन्न है हामिद। वह चार-पाँच साल का गरीब-सूरत, दुबला-पतला लड़का, जिसका बाप गत वर्ष हैज़े की भेंट हो गया और माँ न जाने क्यों पीली होती-होती एक दिन मर गयी। किसी को पता न चला, क्या बीमारी है। कहती भी तो कौन सुनने वाला था। दिल पर जो कुछ बीतती थी, वह दिल में ही सहती थी और जब न सहा गया तो संसार से बिदा हो गयी। अब हामिद अपनी बूढ़ी दादी अमीना की गोद में सोता है और उतना ही प्रसन्न है। उसके अब्बाजान रुपये कमाने गये हैं। बहुत-सी थैलियाँ लेकर आयेंगे। अम्मीजान अल्लाह मियाँ के घर से उसके लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीजें लाने गयी हैं; इसलिए हामिद प्रसन्न है। आशा तो बड़ी चीज है, और फिर बच्चों की आशा! उसकी कल्पना तो राई का पर्वत बना लेती है। हामिद के पाँव में जूते नहीं हैं, सिर पर एक पुरानी-धुरानी टोपी है, जिसका गोट काला पड़ गया है, फिर भी वह प्रसन्न है। जब उसके अब्बाजान थैलियाँ और अम्मीजान नियामतें लेकर आयेंगी,

हामिद को कहानी का मूलाधार बनाना है—इसलिए।

सम्पन्नता के प्रतिनिधि अन्य बालकों में और निर्धनता के प्रतिनिधि हामिद में जो करुण अन्तर है उसकी कहानी मुख्य कहानी के भीतर की एक योगवाही कहानी है।

तो वह दिल के अरमान निकाल लेगा। तब देखेगा महमूद, मोहसिन, नूरे और सम्मी कहाँ से उतने पैसे निकालेंगे। अभागिन अमीना अपनी कोठरी में बैठी रो रही है। आज ईद का दिन और उसके घर में दाना नहीं! आज आबिद होता तो क्या इसी तरह ईद आती और चली जाती! इस अन्धकार और निराशा में वह डूबी जा रही है। किसने बुलाया था इस निगोड़ी ईद को! इस घर में उसका काम नहीं; लेकिन हामिद! उसे किसी के मरने जीने से क्या मतलब? उसके अन्दर प्रकाश है, बाहर आशा। विपत्ति अपना सारा दल-बल लेकर आये, हामिद की आनन्द-भरी चितवन उसका विध्वंस कर देगी।

हामिद भीतर जाकर दादी से कहता है—"तुम डरना नहीं अम्मा, मैं सबसे पहले आऊँगा। बिलकुल न डरना।"

हामिद की सहृदयता को यहीं से सजाया जाने लगा। उसके हृदय की सरलता और संवेदन शीलता पर ही तो कहानी के सौन्दर्य को आधारित करना है।

अमीना का दिल कचोट रहा है। गाँव के बच्चे अपने-अपने बाप के साथ जा रहे हैं। हामिद का बाप अमीना के सिवा और कौन है। उसे कैसे अकेले मेले जाने दे। उस भीड़-भाड़ में बच्चा कहीं खो जाय तो क्या हो! नहीं, अमीना यों उसे यों न जाने देगी। नन्हीं-सी जान! तीन कोस चलेगा

कैसे ! पैर में छाले पड़ जायेंगे। जूते भी तो नहीं है। वह थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसे गोद ले लेगी; लेकिन यहाँ सेवैयाँ कौन पकायेगा ? पैसे होते तो लौटते-लौटते सब सामग्री जमा करके चटपट बना लेती। यहाँ तो घण्टों चीजें जमा करते लगेंगे। माँगे ही का तो भरोसा ठहरा। उस दिन फहीमन के कपड़े सिये थे। आठ आने पैसे मिले थे। उस अठन्नी को ईमान की तरह बचाती चली आती थी, इसी ईद के लिए; लेकिन कल ग्वालिन सिर पर सवार हो गयी तो क्या करती। हामिद के लिये कुछ नहीं है, तो दो पैसे का दूध तो चाहिये ही। अब तो कुल दो आने पैसे बच रहे हैं। तीन पैसे हामिद की जेब में, पाँच अमीना के बटवे में। यही तो बिसात है और ईद का त्योहार, अल्लाह ही बेड़ा पार लगाये। धोबन, और नाइन और मेहतरानी और चूड़िहारिन सभी तो आयेंगी। सभी को सेवैयाँ चाहिये और थोड़ा किसी की आँखों नहीं लगता। किस-किस से मुंह चुरायेगी। और मुंह क्यों चुराये ? साल-भर का त्योहार है। जिन्दगी खैरियत से रहे, उनकी तकदीर भी तो उसी के साथ है। बच्चे को खुदा सलामत रखे, ये दिन भी कट जायँगे।

वस्तुतः उसीको पीठिका बनाकर मुख्य कथा की स्थापना हुई है; इसलिए अन्य बालकों से अलग स्थापित कर हामिद की परिस्थितियों का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। यहीं स्पष्ट हो जाता है कि लेखक अपने प्रतिपाद्य की स्थापना के लिए माध्यम स्थिर कर रहा है। प्रभाव को अधिकाधिक नुकीला बनाने के लिए हामिद और उसकी दादी की यथार्थता पर कठोर समस्याओं का विवरण दिया गया है।

गाँव से मेला चला। और बच्चों के साथ हामिद भी जा रहा था। कभी सब-के-सब दौड़कर आगे निकल जाते। फिर किसी पेड़ के नीचे खड़े होकर साथ-वालों का इन्तजार करते। यह लोग क्यों इतना धीरे-धीरे चल रहे हैं। हामिद के पैरों में तो जैसे पर लग गये हैं। वह कभी थक सकता है! शहर का दामन आ गया। सड़क के दोनों ओर अमीरों के बगीचे हैं। पक्की चारदीवारी बनी हुई है। पेड़ों में आम और लीचियाँ लगी हुई हैं। कभी-कभी कोई लड़का कंकड़ी उठाकर आम पर निशाना लगाता है। माली अन्दर से गाली देता हुआ निकलता है। लड़के वहाँ से एक फर्लांग पर हैं। खूब हँस रहे हैं। माली को कैसा उल्लू बनाया है!

इतिवृत्त एवं विवरणमय चित्र-विधान।

बड़ी-बड़ी इमारतें आने लगीं। यह अदालत है, यह कालेज है, यह क्लबघर है! इतने बड़े कालेज में कितने लड़के पढ़ते होंगे। सब लड़के नहीं हैं जी। बड़े-बड़े आदमी हैं सच। उनकी बड़ी-बड़ी मूछें हैं। इतने बड़े हो गये, अभी तक पढ़ने जाते हैं। न जाने कब तक पढ़ेंगे और क्या करेंगे इतना पढ़कर। हामिद के मदरसे में दो-तीन बड़े-बड़े लड़के हैं, बिलकुल तीन कौड़ी के, रोज मार खाते हैं, काम

लड़कों की बहस और बातचीत में यथार्थता को उभाड़ते हुए विवरण-वर्णन।

से जी चुरानेवाले। इस जगह भी उसी तरह के लोग होंगे क्या। क्लबघर में जादू होता है। सुना है, यहाँ मुरदे की खोपड़ियाँ दौड़ती हैं। और बड़े-बड़े तमाशे होते हैं, पर किसी को अन्दर नहीं जाने देते। और यहाँ शाम को साहब लोग खेलते हैं। बड़े-बड़े आदमी खेलते हैं, मूछों-दाढ़ीवाले। और मेमें भी खेलती हैं, सच। हमारी अम्माँ को वह दे दो, क्या नाम है, बैट, तो उसे पकड़ ही न सकें। घुमाते ही लुढ़क जायँ।

महमूद ने कहा—"हमारी अम्मीजान का तो हाथ काँपने लगे, अल्ला कसम।"

मोहसिन बोला—"चलो, मनों आटा पीस डालती हैं। जरा-सा बैट पकड़ लेंगी, तो हाथ काँपने लगेंगे। सैकड़ों घड़े पानी रोज निकालती हैं। पाँच घड़े तो तेरी भैंस पी जाती है। किसी मेम को एक घड़ा पानी भरना पड़े तो आँखों तले अँधेरा छा जाय।"

महमूद—"लेकिन दौड़तीं तो नहीं, उछल-कूद तो नहीं सकतीं।"

मोहसिन—"हाँ, उछल-कूद नहीं सकतीं; लेकिन उस दिन मेरी गाय खुल गयी थी और चौधरी के खेत में जा पड़ी थी, तो अम्माँ इतना तेज दौड़ीं कि मैं उन्हें पा न सका, सच।"

बालकों के तरंगवत् संवादों से वर्णन की सजीवता मुखर हो रही है।

आगे चले। हलवाइयों की दूकानें शुरू हुईं। आज खूब सजी हुई थीं। इतनी मिठाइयाँ कौन खाता है? देखो न, एक-एक दूकान पर मनों होंगी। सुना है, रात को जिन्नात आकर खरीद ले जाते हैं। अब्बा कहते थे कि आधी रात को एक आदमी हर दूकान पर जाता है और जितना माल बचा होता है, वह तुलवा लेता है और सचमुच के रुपये देता है, बिलकुल ऐसे ही रुपये।

हामिद को यकीन न आया—"ऐसे रुपये जिन्नात को कहाँ से मिल जायँगे?"

मोहसिन ने कहा—"जिन्नात को रुपये की क्या कमी? जिस खजाने में चाहें चले जायँ। लोहे के दरवाजे तक उन्हें नहीं रोक सकते जनाब, आप हैं किस फेर में। हीरे-जवाहिरात तक उनके पास रहते हैं। जिससे खुश हो गए, उसे टोकरों जवाहिरात दे दिये। अभी यहीं बैठे हैं, पाँच मिनट में कलकत्ता पहुँच जायँ।"

बच्चों की बहक विश्वास से भरी और कितनी सरल होती है—इसी को सजीवता प्रदान करने में लेखक लग गया है। यह सम्पूर्ण विस्तार भारवत् मालूम पड़ता यदि सर्वथा व्यवहार-सिद्ध और नितांत प्रकृत न होता।

हामिद ने फिर पूछा—"जिन्नात बहुत बड़े-बड़े होते होंगे?"

मोहसिन—"एक-एक आसमान के बराबर होता है जी। जमीन पर खड़ा हो जाय तो उसका सिर आसमान

से जा लगे, मगर चाहे तो एक लोटे में घुस जाय।"

हामिद—"लोग उन्हें कैसे खुश करते होंगे ? कोई मुझे वह मन्तर बता दे, तो एक जिन्न को खुश कर लूं।"

मोहसिन—"अब यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन चौधरी साहब के काबू में बहुत से जिन्नात हैं। कोई चीज चोरी जाय, चौधरी साहब उसका पता लगा देंगे और चोर का नाम भी देंगे। जुमराती का बछवा उस दिन खो गया था। तीन दिन हैरान हुए, कहीं न मिला। तब झक मारकर चौधरी के पास गये। चौधरी ने तुरन्त बता दिया, मवेशीखाने में है और वहीं मिला। जिन्नात आकर उन्हें सारे जहान की खबरें दे जाते हैं।

अब उसकी समझ में आ गया कि चौधरी के पास क्यों इतना धन है, और क्यों उनका इतना सम्मान है।

आगे चले। यह पुलिस लाइन है। यहीं सब कानिसटिबिल कवायद करते हैं। रैटन ! फाय फो ! रात को बेचारे घूम-घूम कर पहरा देते हैं नहीं तो चोरियाँ हो जायँ। मोहसिन ने प्रतिवाद किया– "यह कानिसटिबिल पहरा देते हैं ! तभी तुम बहुत जानते हो। अजी हजरत, यही चोरी कराते हैं।

तीस कोस की दौड़ का हिसाब-किताब देना है—और वह भी राई-रत्ती का।

शहर के जितने-चोर डाकू हैं सब इनसे मिले रहते हैं। रात को तो ये लोग चोरों से तो कहते हैं चोरी करो और आप दूसरे मुहल्ले में जाकर "जागते रहो! जागते रहो।" पुकारते हैं। जभी इन लोगों के पास इतने रुपये आते हैं। मेरे मामूं एक थाने में कानिसटि-बिल हैं। बीस रुपया महीना पाते हैं; लेकिन पचास रुपये घर भेजते हैं। अल्ला कसम मैंने एक बार पूछा था कि "मामूं, आप इतने रुपये कहाँ से पाते हैं?" हँस-कर कहने लगे—"बेटा, अल्लाह देता है।" फिर आप ही बोले—"हम लोग चाहें तो एक दिन में लाखों मार लायें। हम तो इतना ही लेते हैं, जिसमें अपनी बदनामी न हो और नौकरी न चली जाय।"

हामिद ने पूछा—"यह लोग चोरी करवाते हैं तो कोई इन्हें पकड़ता नहीं?"

मोहसिन उसकी नादानी पर दया दिखाकर बोला—"अरे पागल, इन्हें कौन पकड़ेगा? पकड़ने वाले तो यह लोग खुद हैं; लेकिन अल्लाह इन्हें सजा भी खूब देता है। हराम का माल हराम में जाता है। थोड़े ही दिन हुए मामूं के घर में आग लग गयी। सारी लेई-पूंजी जल गयी। एक बरतन तक न बचा। कई दिन पेड़ के नीचे सोये, अल्ला कसम, पेड़ के नीचे। फिर न

जाने कहाँ से एक सौ कर्ज लाये तो बरतन भाँड़े आये।"

हामिद—"एक सौ तो पचास से ज्यादा होते हैं?"

"कहाँ, पचास, कहाँ एक सौ। पचास एक थैलीभर होता है। सौ तो दो थैलियों में भी न आये।"

अब बस्ती घनी होने लगी थी। ईदगाह जाने वालों की टोलियाँ नजर आने लगीं। एक-से-एक भड़कीले वस्त्र पहने हुए। कोई इक्के-ताँगे पर सवार, कोई मोटर पर, सभी इत्र में बसे, सभी के दलों में उमंग। ग्रामीणों का यह छोटा-सा दिल, अपनी विपन्नता से बेखबर, सन्तोष और धैर्य में मगन चला जा रहा था। बच्चों के लिये नगर की सभी चीजें अनोखी थीं। जिस चीज की ओर ताकते, ताकते ही रह जाते। और पीछे से बार-बार हार्न की आवाज होने पर भी न चेतते। हामिद तो मोटर के नीचे जाते-जाते बचा।

सहसा ईदगाह नजर आया। ऊपर इमली के घने वृक्षों की छाया है। नीचे पक्का फर्श है, जिस पर जाजिम बिछा हुआ है। और रोजेदारों की पंक्तियाँ एक के पीछे एक न जाने कहाँ तक चली गयी हैं। पक्की जगत के नीचे तक, जहाँ जाजिम भी नहीं है। नये आनेवाले

विवरणात्मक स्थलों को प्रकृत संवादों से जोड़ते हुए इतिवृत्त की एकता को अविच्छिन्न बनाए रखा गया है।

ग्रामीण जब नगर में आता है तो कैसा परिवर्तन देखता है।

लेखक हामिद को पाठकों के दृष्टि-पथ से अलग नहीं होने देता।

आकर पीछे की कतार में खड़े हो जाते हैं। आगे जगह नहीं है। यहाँ कोई धन और पद नहीं देखता। इस्लाम की निगाह में सब बराबर हैं। इन ग्रामीणों ने भी वजू किया और पिछली पंक्ति में खड़े हो गये। कितना सुन्दर संचालन है, कितनी सुन्दर व्यवस्था! लाखों सिर एक साथ सिजदे में झुक जाते हैं, फिर सब-के-सब एक साथ खड़े हो जाते हैं; एक साथ झुकते हैं और एक साथ घुटनों के बल बैठ जाते हैं। कई बार यही क्रिया होती है, जैसे बिजली की लाखों बत्तियाँ एक साथ प्रदीप्त हों और और एक साथ बुझ जायँ, और यही क्रम चलता रहे। कितना अपूर्व दृश्य था, जिसकी सामूहिक क्रियायें, विस्तार और अनन्तता हृदय को श्रद्धा, गर्व और आत्मानन्द से भर देती थीं, मानों भ्रातृत्व का एक सूत्र इन समस्त आत्माओं को एक लड़ी में पिरोये हुए है।

ईदगाह का विवरणात्मक-चित्रण।

ईदगाह के चित्र में आ कर अभी तक का कथा-भाग सिमिट उठा है। प्रथम परिच्छेद में कहानी के साध्य पक्ष की केवल पीठिका सजाई गई है। कथा-विस्तार की इतनी फुरसत केवल इतिवृत्त-प्रधान कहानियों में ही मिल सकती है।

नमाज खत्म हो गयी है। लोग आपस में गले मिल रहे हैं। तब मिठाई और खिलौनों की दूकानों पर धावा होता है। ग्रामीणों का यह दल इस विषय में बालकों से कम उत्साही नहीं है। यह देखो, हिंडोला है। एक पैसा देकर चढ़ जाओ। कभी आसमान पर जाते हुए मालूम होगे, कभी जमीन

पर गिरते हुए। यह चर्खी है, लकड़ी के के हाथी, घोड़े, ऊँट छड़ों से लटके हुए हैं। एक पैसा देकर बैठ जाओ और पच्चीस चक्करों का मजा लो। महमूद और मोहसिन और नूरे और सम्मी इन घोड़ों और ऊँटों पर बैठते हैं। हामिद दूर खड़ा है। तीन ही पैसे तो उसके पास हैं, अपने कोष का एक तिहाई जरा सा चक्कर खाने के लिये वह नहीं दे सकता।

'नमाज खत्म हो गई' के साथ काल-व्यवधान का संकेत देकर नूतन परिच्छेद का आरम्भ। ऐकांतिक भाव से पुनः हामिद की ओर दृष्टि आकर्षित की गई है। उसका बौद्धिक संयम भविष्य का कुछ संकेत देता है।

सब चर्खियों से उतरते हैं। अब खिलौने लेंगे। इधर दूकानों की कतार लगी हुई है। तरह-तरह के खिलौने हैं—सिपाही और गुजरिया, राजा और वकील, भिश्ती और धोबिन और साधू। वाह! कितने सुन्दर खिलौने हैं। अब बोला ही चाहते हैं। महमूद सिपाही लेता है, खाकी वर्दी और लाल पगड़ी वाला, कन्धे पर बन्दूक रखे हुए। मालूम होता है, अभी कवायद किये चला आ रहा है। मोहसिन को भिश्ती पसन्द आया। कमर झुकी हुई है, ऊपर मशक रखे हुए है। मशक का मुंह एक हाथ से पकड़े हुए है। कितना प्रसन्न है। शायद कोई गीत गा रहा है। बस, मशक से पानी उड़ेला ही चाहता है। नूरे को वकील से प्रेम है। कैसी विद्वत्ता है उनके मुख पर!

काला चुगा, नीचे सफेद अचकन, अचकन के सामने की जेब में घड़ी, सुनहरी जंजीर, एक हाथ में कानून का पोथा लिए हुए। मालूम होता है, अभी किसी अदालत से जिरह या बहस किये चले आ रहे हैं। यह सब दो-दो पैसे के खिलौने हैं। हामिद के पास कुल तीन पैसे हैं, इतने मँहगे खिलौने वह कैसे ले ? खिलौना कहीं हाथ से छूट पड़े, तो चूर हो जाय। जरा पानी पड़े तो सारा रंग धुल जाय। ऐसे खिलौने लेकर क्या करेगा, किस काम के !

अन्य लड़कों की उत्साहवर्धक खरीद-दारी और बाल-सुलभ चढ़ा-उपरी के भाव का जो विस्तृत विवरण दिया गया है वह केवल हामिद की कारुणिक स्थिति को उभाड़ देने के अभिप्राय से है।

मोहसिन कहता है—"मेरा भिश्ती रोज पानी दे जायगा; साँझ सबेरे।"

महमूद—"और मेरा सिपाही घर का पहरा देगा। कोई चोर आयेगा, तो फौरन बन्दूक से फैर कर देगा।"

नूरे—"और मेरा वकील खूब मुकदमा लड़ेगा।"

सम्मी—"और मेरी धोबिन रोज कपड़े धोयेगी।"

हामिद खिलौने की निन्दा करता है—मिट्टी ही के तो हैं, गिरें तो चकनाचूर हो जायँ, लेकिन ललचाई हुई आँखों से खिलौनों को देख रहा है और चाहता है कि जरा देर के लिये

बालक के अन्तस् का चित्रण।

उन्हें हाथ में ले सकता। उसके हाथ अनायास ही लपकते हैं; लेकिन लड़के इतने त्यागी नहीं होते। विशेष-कर जब अभी नया शौक है। हामिद ललचता रह जाता है।

हामिद की इस विषम स्थिति ने अभाव जन्य कठोर पर यथार्थ, विवशता को पूर्णतया मुखरित कर दिया है। 'खिलौनों की निन्दा करता है' इसमें जो दारुण सहनशीलता है वही हामिद की रीढ़ है।

खिलौने के बाद मिठाइयाँ आती हैं। किसी ने रेवड़ियाँ ली हैं, किसी ने गुलाबजामुन, किसी ने सोहनहलवा। मजे से खा रहे हैं। हामिद बिरादरी से पृथक् है। अभागे के पास तीन पैसे हैं। क्यों नहीं कुछ लेकर खाता? ललचायी आँखों से सब की ओर देखता है।

मोहसिन कहता है—"हामिद, रेवड़ी ले जा, कितनी खुशबूदार है!"

हामिद को सन्देह हुआ, यह केवल क्रूर विनोद है, मोहसिन इतना उदार नहीं है लेकिन यह जानकर भी वह उसके पास जाता है। मोहसिन दोने से एक रेवड़ी निकालकर हामिद की ओर बढ़ाता है। हामिद हाथ फैलाता है। मोहसिन रेवड़ी अपने मुंह में रख लेता है। महमूद, नूरे और खूब सम्मी तालियाँ बजा-बजा कर हँसते हैं। हामिद खिसिया जाता है।

बाल-वृत्ति का यथार्थ चित्रण।

मोहसिन—"अच्छा, अबकी जरूर देंगे हामिद, अल्ला कसम, लें जा।"

हामिद—"रखे रहो। क्या मेरे पास पैसे नहीं हैं ?"

सम्मी—"तीन ही तो पैसे हैं। तीन पैसे में क्या-क्या लोगे ?"

महमूद—"हमसे गुलाबजामुन ले जाओ हामिद। मोहसिन बदमाश है।"

हामिद—"मिठाई कौन बड़ी नेमत है। किताब में इसकी कितनी बुराइयाँ लिखी हैं।"

मोहसिन—"लेकिन दिल में कह रहे होगे कि मिले तो खा लें। अपने पैसे क्यों नहीं निकालते ?"

महमूद—"हम समझते हैं इसकी चालाकी। जब हमारे सारे पैसे खर्च हो जायँगे, तो हमें ललचा-ललचाकर खायगा।"

मिठाइयों के बाद कुछ दूकानें लोहे की चीजों की, कुछ गिलट और कुछ नकली गहनों की। लड़कों के लिये यहाँ कोई आकर्षण न था। वह सब आगे बढ़ जाते हैं। हामिद लोहे की दूकान पर रुक जाता है। कई चिमटे रखे हुए थे। उसे खयाल आया, दादी के पास चिमटा नहीं है। तवे से रोटियाँ उतारती हैं, तो हाथ जल जाता है; अगर वह चिमटा ले जाकर दादी को दे दे, तो वह कितनी प्रसन्न होंगी! फिर उनकी उँगलियाँ कभी न जलेंगी।

इतना रुलाकर हामिद के प्रति लेखक ने संवेदनशीलता को पूर्णतया उद्बुद्ध कर दिया है और अब वास्तविक बात की ओर उन्मुख होता है। छोटे-से बच्चे में दादी के प्रति इतनी बड़ी चेतना को जगाया जा रहा है जो सामान्य नहीं कही जा सकती। विशेष कर यही विशेषत्व आकर्षण का कारण बनता है।

घर में एक काम की चीज हो जायगी। खिलौने से क्या फायदा। व्यर्थ में पैसे खराब होते हैं। जरा देर ही तो खुशी होती है। फिर तो खिलौने को कोई आँख उठाकर नहीं देखता। या तो घर पहुँचते-पहुँचते टूट-फूट बराबर हो जायँगे। चिमटा कितने काम की चीज है। रोटियाँ तवे से उतार लो, चूल्हे में सेंक लो। कोई आग माँगने आये तो चटपट चूल्हे से आग निकालकर उसे दे दो। अम्माँ बेचारी को कहाँ फुरसत है कि बाजार आयें, और इतने पैसे ही कहाँ मिलते हैं। रोज हाथ जला लेती हैं। हामिद के साथी आगे बढ़ गये हैं। सबील पर सब-के सब शर्बत पी रहे हैं। देखो, सब कितने लालची हैं! इतनी मिठाइयाँ लीं, मुझे किसी ने एक भी न दी। उस पर कहते हैं, मेरे साथ खेलो। मेरा यह काम करो। अब अगर किसी ने कोई काम करने को कहा, तो पूछूंगा। खायँ मिठाइयाँ, आप मुंह सड़ेगा, फोड़े-फुन्सियाँ निकलेंगी, आप ही जबान चटोरी हो जायगी तब घर से पैसे चुरायेंगे और मार खायँगे। किताब में झूठी बातें थोड़े ही लिखी हैं। मेरी जबान क्यों खराब होगी। अम्माँ चिमटा देखते ही दौड़ कर मेरे हाथ से ले लेंगी और कहेंगी—

यह प्रघट्टक कहानी के मध्यभाग और चरम उत्कर्ष को सजीव बनाने में पूर्ण योग दे रहा है। बालक हामिद के प्रति बड़े कौशल से संवेदनशीलता जगाई गई है। उसका दैन्य विजड़ित विवेक, मातृ-वत्सलला, और आन्तरिक गहरा सन्तोष इस स्थल पर समष्टिगत सौन्दर्य उत्पन्न कर रहा है।

अन्य बालकों की स्थिति से अपनी यथार्थता का तारतम्य निरूपण करने वाला यह बालक कितना गरिमामय बन उठा है—अपने निश्चय, प्रतिस्पर्धा और विवेक के कारण। इसी चारित्रिक विशेषता और तज्जनित महिमा को आलोकित करने के लिए इससे पूर्व के सारे वर्णन-विवरण आवश्यक हुए हैं।

मेरा बच्चा अम्मा के लिये चिमटा लाया है ! हजारों दुआएँ देंगी। फिर पड़ोस की औरतों को दिखायेंगी। सारे गाँव में चरचा होने लगेगी, हामिद चिमटा लाया है। कितना अच्छा लड़का है। इन लोगों के खिलौने पर कौन इन्हें दुआएँ देगा। बड़ों की दुआएँ सीधे अल्लाह के दरबार में पहुँचती हैं, और तुरन्त सुनी जाती हैं। मेरे पास पैसे नहीं हैं। तभी तो मोहसिन और महमूद यों मिजाज दिखाते हैं। मैं भी इनसे मिजाज दिखाऊँगा। खेलें खिलौने और खायँ मिठाइयाँ। मैं नहीं खेलता खिलौने, किसी का मिजाज क्यों सहूँ। मैं गरीब सही, किसी से कुछ माँगने तो नहीं जाता। आखिर अब्बाजान कभी-न-कभी आयेंगे। अम्माँ भी आयेंगी ही। फिर इन लोगों से पूछूँगा, कितने खिलौने लोगे ? एक-एक को टोकरियों खिलौने दूं और दिखा दूं कि दोस्तों के साथ इस तरह सलूक किया जाता है। यह नहीं कि एक पैसे की रेवड़ियाँ लीं तो चिढ़ा-चिढ़ाकर खाने लगे। सब के सब खूब हँसेंगे कि हामिद ने चिमटा लिया है। हँसें। मेरी बला से। उसने दूकानदार से पूछा—"यह चिमटा कितने का है ?"

आशाभरी प्रतिस्पर्धा और विवेकमूलक निश्चय में आंतरिक संतोष मिश्रित है।

दूकानदार ने उसकी ओर देखा और कोई आदमी साथ न देखकर

कहा—"वह तुम्हारे काम का नहीं है जी।"

"बिकाऊ है कि नहीं ?"

"बिकाऊ क्यों नहीं है। और यहाँ क्यों लाद लाये हैं ?"

"तो बताते क्यों नहीं, कै पैसे का है ?"

"छै पैसे लगेंगे।"

हामिद का दिल बैठ गया।

"ठीक-ठीक बताओ।"

"ठीक-ठीक पाँच पैसे लगेंगे, लेना हो लो, नहीं चलते बनो।"

हामिद ने कलेजा मजबूत करके कहा—"तीन पैसे लोगे ?"

यह कहता हुआ वह आगे बढ़ गया कि दूकानदार की घुड़कियाँ न सुने। लेकिन दूकानदार ने घुड़कियाँ नहीं दीं। बुलाकर चिमटा दे दिया। हामिद ने उसे इस तरह कन्धे पर रखा, मानो बन्दूक है और शान से अकड़ता हुआ संगियों के पास आया। जरा सुनें, सब के सब क्या-क्या आलोचनाएँ करते हैं।

मोहसिन ने हँसकर कहा—"यह चिमटा क्यों लाया पगले ! इसे क्या करेगा ?"

हामिद ने चिमटे को जमीन पर पटक कर कहा—"जरा अपना भिश्ती

जमीन पर गिरा दो। सारी पसलियाँ चूर-चूर हो जायँ बचा की।"

महमूद बोला—"तो यह चिमटा कोई खिलौना है!"

हामिद—"खिलौना क्यों नहीं है? अभी कन्धे पर रखा, बन्दूक हो गयी। हाथ में ले लिया, फकीरों का चिमटा हो गया। चाहूँ तो इससे मजीरे का क़ाम ले सकता हूँ। एक चिमटा जमा दूं तो तुम लोगों के सारे खिलौनों की जान निकल जाय। तुम्हारे खिलौने कितना ही जोर लगायें, मेरे चिमटे का बाल भी बाँका नहीं कर सकते। मेरा बहादुर शेर है—चिमटा।"

आंतरिक संतोष से प्रेरित प्रतिस्पर्धा का विवरणात्मक उद्घाटन और वैदग्ध्यपूर्ण वाद-विवाद का स्वरूप।

सम्मी ने खँजरी ली थी। प्रभावित होकर बोला—"मेरी खँजरी से बदलोगे? दो आने की है।"

हामिद ने खँजरी की ओर उपेक्षा से देखा—"मेरा चिमटा चाहे तो तुम्हारी खँजरी का पेट फाड़ डाले। बस, एक चमड़े की झिल्ली लगा दी, ढब-ढब बोलने लगी। जरा-सा पानी लग जाय तो खतम हो जाय। मेरा बहादुर चिमटा आग में, पानी में, आँधी में, तूफान में बराबर डटा खड़ा रहेगा।"

व्यावहारिक तर्कशीलता।

चिमटे ने भी सभी को मोहित कर लिया; लेकिन अब पैसे किसके पास धरे हैं। फिर मेले से दूर निकल आये हैं,

नौ कब के बज गये, धूप तेज हो रही है। घर पहुँचने की जल्दी हो रही है। बाप से जिद भी करें, तो चिमटा नहीं मिल सकता। हामिद है बड़ा चालाक। इसीलिये बदमाश ने अपने पैसे बचा रखे थे।

अब बालकों के दो दल हो गये हैं। मोहसिन, महमूद, सम्मी और नूरे एक तरफ हैं, हामिद अकेला दूसरी तरफ। शास्त्रार्थ हो रहा है। सम्मी तो विधर्मी हो गया। दूसरे पक्ष से जा मिला; लेकिन मोहसिन, महमूद और नूरे भी, हामिद से एक-एक दो-दो साल बड़े होने पर भी हामिद के आघातों से आतंकित हो उठे हैं। उसके पास न्याय का बल है और नीति की शक्ति। एक ओर मिट्टी है, दूसरी ओर लोहा, जो इस वक्त अपने को फौलाद कह रहा है। वह अजेय है, घातक है। अगर कोई शेर आ जाय, तो मियाँ भिश्ती के छक्के छूट जायँ, मियाँ सिपाही मिट्टी की बन्दूक छोड़कर भागें, वकील साहब की नानी मर जाय, चुगे, में मुंह छिपाकर जमीन पर लेट जायँ। मगर यह चिमटा, यह बहादुर, यह रुस्तमे-हिन्द लपक कर शेर की गरदन पर सवार हो जायगा और उसकी आँखें निकाल लेगा।

बच्चों के तर्क-वितर्क में अनेक सूक्ष्म की बातें आ जाती हैं।

हामिद ने आखिरी जोर लगाकर कहा—"भिश्ती को एक डाँट बतायेगा, तो दौड़ा हुआ पानी लेकर उसके द्वार पर छिड़कने लगेगा।"

मोहसिन परास्त हो गया; पर महमूद ने कुमक पहुँचाई—"अगर बचा पकड़ जायँ तो अदालत में बँधे-बँधे फिरेंगे। तब तो वकील साहब के ही पैरों पड़ेंगे।"

हामिद इस प्रबल तर्क का जवाब न दे सका। उसने पूछा—"हमें पकड़ने कौन आयेगा?"

नूरे ने अकड़ कर कहा—"यह सिपाही बन्दूकवाला।"

हामिद ने मुंह चिढ़ाकर कहा—"यह बेचारे हम बहादुर रुस्तमे-हिन्द को पकड़ेंगे। अच्छा लाओ, अभी जरा कुश्ती हो जाय। इसकी सूरत देखकर दूर से भागेंगे। पकड़ेंगे क्या बेचारे!"

मोहसिन को एक नयी चोट सूझ गयी—"तुम्हारे चिमटे का मुंह रोज आग में जलेगा।"

उसने समझा था कि हामिद लाज-वाब हो जायगा; लेकिन यह बात न हुई। हामिद ने तुरन्त जवाब दिया—"आग में बहादुर ही कूदते हैं जनाब! तुम्हारे यह वकील, सिपाही और भिश्ती लेडियों की तरह घर में घुस जायँगे।

विदग्धता से भरे इस स्थल के ये संवाद स्वयं में बड़े सरल और व्यावहारिक होते हुए भी मात्रा में विस्तारगामी हो गए हैं। ऐसे ही स्थलों के कारण कहानी की काया बहुत बढ़ गई है। बात को निरर्थक विस्तार देकर कहानी को बढ़ाना—प्रेमचन्द में सामान्य दोष की बात है।

ग्राग में कूदना वह काम है, जो यह रुस्तमे-हिन्द ही कर सकता है ।"

महमूद ने एक जोर लगाया—"वकील साहब कुरसी-मेज पर बैठेंगे, तुम्हारा चिमटा तो बावरचीखाने में जमीन पर पड़ा रहेगा ।"

इस तर्क ने सम्मी ग्रौर नूरे को भी सजीव कर दिया। कितने ठिकाने की बात कही है पट्ठे ने। चिमटा बावरचीखाने में पड़े रहने के सिवा ग्रौर क्या कर सकता है।

हामिद को कोई फड़कता हुग्रा जवाब न सूझा तो उसने धाँधली शुरू की—"मेरा चिमटा बावरचीखाने में नहीं रहेगा। वकील साहब कुरसी पर बैठेंगे, तो जाकर उन्हें जमीन पर पटक देगा ग्रौर उनका कानून उनके पेट में डाल देगा ।"

बात कुछ बनी नहीं। खासी गाली-गलौज थी; लेकिन कानून को पेट में डालने वाली बात छा गयी। ऐसी छा गयी कि तीनों सूरमा मुंह ताकते रह गये, मानो कोई धेलचा कंकौग्रा किसी गण्डे वाले कंकौए को काट गया हो। कानून मुंह से बाहर निकलनेवाली चीज है। उसको पेट के ग्रन्दर डाल दिया जाना, बेतुकी-सी बात होने पर भी कुछ नयापन रखती है। हामिद ने मैदान

मार लिया। उसका चिमटा रुस्तमे-हिन्द है। अब इसमें मोहसिन, महमूद, नूरे, सम्मी किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती।

विजेता को हारनेवालों से जो सत्कार मिलना स्वाभाविक है, वह हामिद को भी मिला। औरों ने तीन-तीन, चार-चार आने पैसे खर्च किये पर कोई काम की चीज न ले सके। हामिद नें तीन पैसे में रंग जमा लिया। सच ही तो है, खिलौनों का क्या भरोसा? टूट-फूट जायँगे। हामिद का चिमटा तो बना रहेगा बरसों!

सन्धि की शर्तें तय होने लगीं। मोहसिन ने कहा—"जरा अपना चिमटा दो, हम भी देखें। तुम हमारा भिश्ती लेकर देखो।"

महमूद और नूरे ने भी अपने-अपने खिलौने पेश किये।

हामिद को इन शर्तों को मानने में कोई आपत्ति नहीं थी। चिमटा बारी-बारी से सब के हाथ में गया, और उनके खिलौने बारी-बारी से हामिद के हाथ में आये। कितने खूबसूरत खिलौने हैं!

हामिद ने हारनेवालों के आँसू पोंछे—"मैं तुम्हें चिढ़ा रहा था, सच! यह लोहे का चिमटा भला इन खिलौनों

इतने विस्तारगामी वाद-विवाद के उपरान्त रुस्तमे हिन्द चिमटे ने मैदान मार लिया। दिग्विजय का यह सारा प्रसार पूर्व-स्थापित चरम उत्कर्ष की विवृति मात्र है। इसके लघु विस्तार से भी काम चल सकता था। ऐसे स्थलों का विस्तार-भार जो उबास नहीं पैदा करता—इसका मुख्य कारण कुशल कृतिकार की इतिवृत्त को सरस बनाने की क्षमता है।

की क्या बराबरी करेगा; मालूम होता है, अब बोले, अब बोले।"

लेकिन मोहसिन की पार्टी को इस दिलासे से सन्तोष नहीं होता। चिमटे का सिक्का खूब बैठ गया है। चिपका हुआ टिकट अब पानी से नहीं छूट रहा है।

मोहसिन—"लेकिन इन खिलौनों के लिये कोई हमें दुआ तो न देगा?"

महमूद—"दुआ को लिये फिरते हो, उलटे मार न पड़े। अम्माँ जरूर कहेंगी कि मेले में यही मिट्टी के खिलौने तुम्हें मिले?"

हामिद को स्वीकार करना पड़ा कि खिलौनों को देखकर किसी की माँ इतनी खुश न होंगी, जितनी दादी चिमटे को देखकर होंगी। तीन पसों ही में तो उसे सब कुछ करना था, और उन पैसों के इस उपयोग पर पछतावे की बिलकुल जरूरत न थी। फिर अब तो चिमटा रुस्तमे-हिन्द है और सभी खिलौनों का बादशाह।

रास्ते में महमूद को भूख लगी। उसके बाप ने केले खाने को दिये। महमूद ने केवल हामिद को साझी बनाया। उसके अन्य मित्र मुंह ताकते रह गये। यह उस चिमटे का प्रसाद था।

चिमटे के प्रसाद में यहाँ तक का कथाभाग अन्वित हो गया है। बात एक सम पर पहुँच चुकी है, इसलिए यह परिवर्तन और परिच्छेद की समाप्ति।

३

ग्यारह बजे सारे गाँव में हलचल मच गयी। मेलेवाले आ गए। मोहसिन की छोटी बहन ने दौड़कर भिश्ती उसके हाथ से छीन लिया और मारे खुशी के जो उछली, तो मियाँ भिश्ती नीचे आ रहे और सुरलोक सिधारे। इस पर भाई-बहन में मार-पीट हुई। दोनों खूब रोये। उनकी अम्मा यह शोर सुनकर बिगड़ीं और दोनों को ऊपर से दो-दो चाँटे और लगाये।

काल एवं परिस्थिति भिन्नता की सूचना देते हुए नए परिच्छेद का आरम्भ।

रुस्तमे हिन्द की अमरता को स्थापित करने के लिए अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त कर दिया गया।

मियाँ नूरे के वकील का अन्त उनके प्रतिष्ठानुकूल इससे ज्यादा गौरवमय हुआ। वकील जमीन पर या ताक पर तो नहीं बैठ सकता। उसकी मर्यादा का विचार तो करना ही होगा। दीवार में दो खूंटियाँ गाड़ी गयीं। उन पर लकड़ी का एक पटरा रखा गया। पटरे पर कागज का कालीन बिछाया गया। वकील साहब राजा भोज की भाँति सिंहासन पर विराजे। नूरे ने उन्हें पंखा झलना शुरू किया। अदालतों में खस की टट्टियाँ और बिजली के पंखे रहते हैं। क्या यहाँ मामूली पंखा भी न हो! कानून की गर्मी दिमाग पर चढ़ जायगी कि नहीं। बाँस का पंखा आया और नूरे हवा करने लगे। मालूम नहीं, पंखे की हवा से, या पंखे की चोट

बात बढ़ाने में लेखक का व्यक्तिगत आग्रह उभड़ पड़ता है—इसे वर्ज्य मानना चाहिए।

से वकील साहब स्वर्ग-लोक से मृत्युलोक में आ रहे और उनका माटी का चोला माटी में मिल गया। फिर बड़े जोर-शोर से मातम हुआ और वकील साहब की अस्थि घूर पर डाल दी गयी।

अब रहा महमूद का सिपाही। उसे चटपट गाँव का पहरा देने का चार्ज मिल गया; लेकिन पुलिस का सिपाही साधारण व्यक्ति तो नहीं, जो अपने पैरों चले। वह पालकी पर चलेगा। एक टोकरी आयी, उसमें कुछ लाल रंग के फटे-पुराने चिथड़े बिछाये गये, जिसमें सिपाही साहब आराम से लेटें। नूरे ने यह टोकरी उठाई और अपने द्वार का चक्कर लगाने लगे। उनके दोनों छोटे भाई सिपाही की तरफ से 'छोनेवाले, जागते लहो' पुकारते चलते हैं। मगर रात तो अँधेरी होनी चाहिए; महमूद को ठोकर लग जाती है। टोकरी उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ती है और मियाँ सिपाही अपनी बन्दूक लिए जमीन पर आ जाते हैं और उनकी एक टाँग में विकार आ जाता है। महमूद को आज ज्ञात हुआ कि वह अच्छा डाक्टर है। उसको ऐसा मरहम मिल गया है, जिससे वह टूटी टाँग को आनन-फानन जोड़ सकता है। केवल गूलर

नाश को सुधारने और बिगड़ी बात को बनाने में लगे बालकों की क्रियों का प्रकृत चित्रण ही इष्ट है।

का दूध चाहिए। गूलर का दूध आता है। टाँग जोड़ दी जाती है; लेकिन सिपाही को ज्यों ही खड़ा किया जाता है, टाँग जबाब दे देती है। शल्य-क्रिया असफल हुई, तब उसकी दूसरी टाँग भी तोड़ दी जाती है। अब कम-से कम एक जगह आराम से बैठ तो सकता है। एक टाँग से तो न चल सकता था; न बैठ सकता था। अब वह सिपाही संन्यासी हो गया है। अपनी जगह पर बैठा-बैठा पहरा देता है। कभी-कभी देवता भी बन जाता है। उसके सिर का झालरदार साफा खुरच दिया गया है। अब उसका जितना रूपान्तर चाहो, कर सकते हो। कभी-कभी तो उससे बाट का काम भी लिया जाता है

अब मियाँ हामिद का हाल सुनिए। अमीना उसकी आवाज सुनते ही दौड़ी और गोद में उठाकर प्यार करने लगी। सहसा उसके हाथ में चिमटा देखकर वह चौंकी।

"यह चिमटा कहाँ था?"

"मैंने मोल लिया है।"

"कै पैसे में?"

"तीन पैसे दिये।"

अमीना ने छाती पीट ली। यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ,

कुछ खाया न पिया, लाया क्या, चिमटा! सारे मेलेमें तुझे और कोई चीज न मिली, जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया ?

हामिद ने अपराधी-भाव से कहा—"तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं; इसलिये मैंने इसे लिया।"

प्रभावान्विति की निष्पत्ति।

बुढ़िया का क्रोध तुरन्त स्नेह में बदल गया, और स्नेह भी वह नहीं, जो प्रगल्भ होता है और अपनी सारी कसक शब्दों में बिखेर देता है। यह मूक स्नेह था, खूब ठोस, और स्वाद से भरा हुआ। बच्चे में कितना त्याग, कितना सद्भाव और कितना विवेक है! दूसरों को खिलौना लेते और मिठाई खाते देखकर इसका मन कितना ललचाया होगा। इतना जब्त इससे हुआ कैसे! वहाँ भी इसे अपनी बुढ़िया दादी की याद बनी रही। अमीना का मन गद्गद हो गया।

और अब एक बड़ी विचित्र बात हुई। हामिद के इस चिमटे से भी विचित्र। बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गयी। वह रोने लगी। दामन फैलाकर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँसू की बड़ी-बड़ी बूंदें गिराती जाती थी। हामिद इसका रहस्य क्या समझता!

पूर्णाहुति। चार कदम आगे बढ़ कर विषय की यहाँ पर समाप्ति। प्रभावान्विति की सिद्धि के उपरान्त एक वाक्य में कहानी समाप्त हो सकती थी—'बुढ़िया की धुँधली आँखों से आँसू की धार बह चली। हामिद को अपनी छाती से चिपका कर वहीं बैठ गई।'

परिशिष्ट

(ख)

संक्षिप्त-समीक्षा

पुरस्कार

[जयशंकर प्रसाद]

इस कहानी की दो विशेषताएँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। विषय एवं प्रसंग की स्थापना और चित्रण करने के पूर्व उनकी प्रकृति के अनुरूप वातावरण सम्बन्धी सारी साज-सज्जा एकत्र कर देना—ऐसी विशेषता है जो 'प्रसाद' की कहानियों में सर्वत्र पाई जाती है। अपनी कृतियों में सजीवता पिरोने के लिए वे इस पक्ष को बड़ी तत्परता से उपस्थित करते हैं। भारतीय जीवन के अतीत सौन्दर्य का सूक्ष्म विवरण 'प्रसाद' को प्राप्त था; इसलिए उसकी झलक सर्वत्र मिलती है। दूसरी विशेषता कहानी के मूलभाव में दिखाई पड़ती है। दो विरोधी वृत्तियों के अन्तर-संघर्ष का कौशलपूर्ण अंकन करने में 'प्रसाद' को बड़ी सफलता मिली है। 'आकाश-दीप' और 'पुरस्कार' दोनों में मूलभाव प्रायः एक-सा है—भले ही परिस्थिति तथा वातावरण में अन्तर हो! इन कहानियों में दो विशिष्ट प्रकार के ममत्वों का संघर्ष वर्णित है—प्रेम-अनुराग और कुल की मर्यादा का संरक्षण। कठोर विषमता के उपरान्त दोनों का क्रियागत और सामञ्जस्यपूर्ण पर्यवसान ही सौन्दर्य का कारण बन जाता है।

सुजान भगत

[प्रेमचन्द]

मुंशी प्रेमचन्द के महत्व और उनकी समस्त कृतियों का जिसे पूरा परिचय प्राप्त हो, उसके लिये यह सरलता से संभव नहीं हो सकता कि वह निर्णय कर दे कि उसकी कौन-कौन-सी कहानियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। कुछ लोगों ने इसका प्रयास किया है। पर सफलता कितनी मिल सकी है इसका निर्णय विशेषज्ञ ही कर सकता है। उनकी लिखी प्रायः पाँच-सौ कहानियाँ हैं। विषय और पद्धति के आधार पर इनका समुचित वर्गीकरण आज तक नहीं हो सका—और यह बात है नितान्त आवश्यक। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि विषय-प्रसार की दृष्टि से आज तक हिन्दी में इतना किसी ने नहीं लिखा। उनकी कहानियों में विषय की विविधता को देखकर आश्चर्य होता है। जीवन और जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले विचार और परिस्थिति की कोई मार्मिक बात न बची होगी, जिस पर उनकी लेखनी न चली हो।

स्थिति इतनी गहन होने पर भी यदि उनके विषयों का साधारणतः अध्ययन किया जाय तो एक बात तो साफ दिखाई पड़ेगी। ग्राम-निवासी कृषकवर्ग के अध्ययन, चित्रण और उद्घाटन में प्रेमचन्द जी का अधिक समय और श्रम लगा था। समाज के इस क्षेत्र के तो वे सच्चे प्रतिनिधि थे। कृषक के व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, सामाजिक और सामूहिक स्वरूप की अभिव्यक्ति उनके जीवन का प्रधान कार्य था। उनकी आकांक्षा थी कि इस ओर जगत का रागात्मक आकर्षण उत्पन्न हो। यही कारण है कि उपन्यासों से लेकर कहानियों तक एकरस और एकचित्त होकर उन्होंने ग्राम-कृषक के जीवन की विवृत्ति इतने स्वच्छ रूप में उपस्थित की थी। प्रस्तुत कहानी में इसी विवृत्ति का एक कण है।

बेचारे कृषक की स्थिति अपने कुटुम्ब में इतनी दुर्बल होती है कि जब तक निरन्तर मरता-खपता सोना पैदा करता रहे तब तक तो

राजपद भोगे, नहीं तो पत्नी-पुत्र तक उसकी अवमानना करने लगते हैं। 'सुजान-भगत' ने यही अनुभव किया। 'वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है। जिसमें लाग है वह बूढ़ा भी हो तो जवान है।' यही उसकी अनुभूतियों का मर्म और कहानी का प्रतिपाद्य विषय है। साथ में सामान्य कृषक-कुटुम्ब की एक साधारण घटना है और उसकी अपनी कुछ परिस्थितियाँ हैं। कहानी में सुजान भगत का चरित्र स्पृहणीय बनाया गया है।

अलबम

[**सुदर्शन**]

हिन्दी के कहानी लेखकों में श्री सुदर्शन जी बड़े ही यशस्वी हैं। दैनिक और पारिवारिक जीवन की सहज और सामान्य अनुभूतियों के मार्मिक चित्रण में इनकी विशेष पटुता दिखाई पड़ती है। साथ ही भाषा-विषयक सफाई और कथानक-सम्बन्धी ऋजुता भी इनमें अच्छी मिलती है। सामाजिक समस्याओं का समाधान हमारे जीवन में किस प्रकार सरलता से ढाला जा सकता है इसका व्यावहारिक संकेत इनकी विभिन्न कहानियों में सफलता के साथ दिया गया है। इस प्रकार इन्हें हम सुधारक रूप में भी ले सकते हैं, इस सुधार-भाव में कला का आवरण कलात्मक ढंग से वर्तमान रहता है।

'अलबम' में दो साधु वृत्तियों का अच्छा संघर्ष दिखाया गया है। दाता और याचक अथवा कर्ज देने और लेनेवाले की कोमलता और कर्त्तव्यनिष्ठा का व्यावहारिक संतुलन किया गया है। पं० शादीराम में कर्ज अदा करने की धर्ममूलक आकांक्षा और तत्परता दिखाई गई है। लाला सदानन्द में ममत्वपूर्ण करुणाशीलता का अच्छा स्फुरण चित्रित हुआ है। तुलसीदास के चातक और मेघ की भाँति दोनों अपने-अपने पक्ष के गौरवपूर्ण निर्वाह में लगे दिखाई पड़ते हैं। चारित्र्योद्घाटन ही कहानी का मूल विषय है। इसमें इतिवृत्त का सीधापन तो है ही, साथ ही दो प्रकार की मनोवृत्तियों का तारतम्य भी सुन्दरतापूर्वक निरूपित किया गया है।

अशिक्षित का हृदय

[विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक']

प्रस्तुत कहानी में ग्राम-जीवन का एक सामान्य दृश्य है। इसमें इतिवृत्त समगति से आद्यन्त चला है; किसी विशेष उतार-चढ़ाव का अवसर नहीं आया है—न कथानक में और न चरित्र में। ठाकुर शिवपालसिंह नीम के पेड़ को कटवाने के लिए उद्यत हैं और बूढ़ा मनोहरसिंह कृतनिश्चय है कि जान चली जायगी पर वह वृक्ष उसके बड़े भाई के समान है इसलिए कट नहीं सकता। कहानी का प्रतिं-पाद्य है—उस बूढ़े सैनिक के हृदय की सरल और भावुक दृढ़ता। अपने ऊपर ठाकुर साहब के पावने को स्वीकार करने में उसे रंच-मात्र हिचक नहीं है। विवश होकर वह इस बात को भी स्वीकार कर लेता है कि उस नीम के पेड़ पर ठाकुर का ही अधिकार हो जाय पर वह वृक्ष काटा नहीं जा सकता। उसके साथ जो साहचर्य-जनित भावनाएँ लिपटी हैं वे ही उसके हृदय की दृढ़ता को निरन्तर जगाती हैं। तेजसिंह की बाल-सुलभ कोमलता और त्याग की सुन्दरता ने कहानी में प्राण डाल दिया है।

'कौशिक' जी की कहानियों में सामान्यतः हृदय की कोमल और सरल वृत्तियों की विवृत्ति का उद्घाटन होता है। कौटुम्बिक और व्यक्तिगत जीवन के चित्रण में वे विशेष पटु हैं। पुराने कहानी-लेखकों में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। भाषा की व्यावहारिकता और स्वच्छता के कारण भी उनकी रचनाओं का सौन्दर्य बढ़ गया है।

कानों में कँगना

[राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह]

हिन्दी की कहानी-रचना में राजा साहब की इस कृति का ऐतिहासिक महत्व है। इसका निर्माण उस काल में हुआ था जब हिन्दी में कहानी-कला का स्वरूप संगठित हो रहा था और इस विषय के लिखनेवाले इने-गिने थे। ऐसे समय में ऐसी प्रौढ़ सृष्टि

देखकर हिन्दी जगत् प्रसन्न हो उठा था और 'प्रसाद' जी के समान कलाकार भी गद्गद् हो गए थे। इस कहानी में लेखक की भाषा-शैली भावप्रधान, अलंकृत और परिष्कृत है। साथ ही सारा कथानक कलात्मक ढंग से सुगठित है। आदि और अन्त कौशलपूर्वक संतुलित हैं, जिससे रचनात्मक सौष्ठव का पूरा परिचय मिल जाता है। ई० सन् १९१३ तक विषय का इतना शृंगारमय स्थापन सर्वथा नवीन था। इस दृष्टि से इस रचना की विशेषता का अनुमान लगाया जा सकता है। नशा के उतरने-चढ़ने का इतना विवरणात्मक निवेदन बिना प्रतिभा-बल के कदापि सम्भव नहीं। किरण के आत्यन्तिक आत्मदान और नरेन्द्र की अज्ञानमूलक उपेक्षा की ही यह करुण कहानी है—जो काव्यात्मक पद्धति से उपस्थित की गई है। विषय की भावात्मकता की प्रकृति के अनुरूप ही सारा वातावरण और पूर्व-पीठिका सजाई गई है। इस प्रकार दोनों पक्षों का अन्योन्य सम्बन्ध स्फुटित हो गया है। यही इस कहानी का मूलाधार है।

चोर

[जैनेन्द्रकुमार]

नवीन पद्धति के कहानी-लेखकों में श्री जैनेन्द्रकुमार का स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी रचनाओं में जीवन की अनुभूतियाँ, विचार-वितर्क और दार्शनिक तथ्यवाद की खूबी दिखाई पड़ती है। भाषा भी तदनुरूप कहीं गतिशील, सरल और व्यावहारिक है; और कहीं उलझी, रूक्ष और विचार-प्रधान मिलती है। वाक्य-विन्यास में हिन्दी की मूल प्रकृति से भिन्न उलट-फेर अधिक, शब्द योजना में अंगरेजीपन और विचार-चिन्तन में तर्क का सहारा प्रमुख रहता है। इन विशेषताओं को उनका अपनापन ही मानना चाहिए—दोष का विषय नहीं।

उनकी लिखी कहानियाँ अनेक प्रकार की दिखाई पड़ती है; कहीं इतिवृत्त की प्रधानता रहती है तो कहीं केवल सामान्य कथांश के आधार पर तथ्य-निवेदन मिलता है। उनकी पहली कहानी 'खेल'

ही लोगों को प्रभावित करने में पूर्ण सफल रही। उसके उपरान्त तो फिर निरन्तर उनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं। कुछ विशेषताएँ अवश्य उनमें ऐसी थीं जो आरम्भ से आज तक एकरस चली आ रही हैं; कथानक का सीधापन, विचार पक्ष का संयोजन और अन्तर्वत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण ऐसी ही विशषताएँ हैं। सामान्य-सी परिस्थितियों और घटनाओं का प्रभाव कभी-कभी, ऐसा पड़ता कि जी में घर कर लेता। 'खेल', 'अपना-अपना भाग्य', 'पाजेब', 'चोर' इत्यादि में उक्त प्रवृत्तियाँ साफ-साफ मिलती हैं। इधर आकर जैनेन्द्र में विचार-पक्ष का प्राधान्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया है।

'चोर' कहानी में एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का अच्छा प्रतिपादन है। बालकों की मनोवृत्ति सहज रूप में सारग्राहिणी होती है और उनके नवनीत-हृदय में जो संस्कार, छाप या प्रभाव पड़ता है वह स्वच्छ, दृढ़ और एकरस होता है। प्रद्युम्न में चोर के प्रति जो जिज्ञासा, भय, आतंक, उद्वेग हुआ वह बहुत काल तक उसके मस्तिष्क और चेतना पर छाया रहा। अभी वह चोर और चोरत्व की उलझन से छुट्टी नहीं पा सका था तब तक दिलीप ने चोर के विषय में चाक्षुष-प्रत्यक्ष की बात कही और तत्पर जिज्ञासु की भाँति प्रद्युम्न दौड़ा उसे देखने के लिए। देख आने पर दिलीप तो उल्लसित रहा पर वह चिन्तित हो उठा है, क्योंकि चोर किसी प्रकार भी तो मानव से कुछ अधिक नहीं दिखाई पड़ा। फिर लोग उससे क्यों इतना घबराते और डरते हैं—इस बात को वह बालक नहीं समझ पाता। बालक की कोमल-मति और बुद्धि का यथार्थ चित्रण ही कहानी का प्रतिपाद्य है। वस्तुस्थिति का प्रकृतत्व ही सौन्दर्य का विशेष कारण है।

बैल की बिक्री

[सियाराम शरण गुप्त]

यह कहानी रचना-विधान की दृष्टि से उत्तम है। इसमें कथा-तत्व के प्रकृत उतार-चढ़ाव के साथ चरित्रांकन के सौन्दर्य की संगति बड़ी अच्छी बैठी है। परिस्थिति-जन्य भाव-परिवर्तन का चित्रण

सूक्ष्मता से किया गया है। शिबू जो मूलतः स्वच्छंद, उच्छृंखल, उद्धत और नितान्त अविनीत था, वह सूदखोर, जमींदार ज्वालाप्रसाद की कठोरता में आबद्ध अपने पिता की दीन स्थिति को देखकर बदल जाता है और दृढ़ निश्चय के साथ उसमें कर्मठता जाग उठती है। इस जागरण एवं परिवर्तन में जीवन की आशंका भी बाधा नहीं डाल सकी। उसके निर्भीक उत्साह से ज्वालाप्रसाद भी प्रभावित हो जाता है। इसके अतिरिक्त मोहन के अन्तर्वृत्ति-निरूपण में लेखक की सहृदयता अधिक स्फुट हुई है। सच्चे किसान की सहज सरलता और यथार्थ भावुकता के उद्घाटन में वह पूर्ण सफल हुआ। मोहन वात्सल्यपूर्ण ममत्व की प्रतिमा है। उसकी ममता अपने पुत्र तक ही परिमित नहीं है; उसका प्रसार बैल तक फैल गया है। मोहन अपने सुख-दुःख के साथी बैल के बिछुड़ने से विचलित हो उठता है और शिबू ने जो उसके प्रति कठोर वचन कहे उसके निराकरण के लिए जैसी सेवा-तत्परता मोहन ने दिखाई उससे उसके अन्तःकरण की मानवोचित कोमलता प्रकट होती है।

कहानी का आरम्भ सर्वथा विषय के अनुरूप हुआ है। डाकुओं के व्यापार से कुतूहल उत्पन्न होकर कहानी को आद्यन्त रुचिकर बनाए रहता है। निरर्थक विस्तार-संकोच के कारण अन्त अनुमानश्रित होकर आकर्षण उत्पन्न करने में सहायक है। भाषा वक्रोक्तिमूलक अभिव्यंजना से आपूर्ण है। सर्वत्र वाक्यों की लघुता और सीधेपन के कारण विपय-कथन में स्वच्छता उत्पन्न हो गई है।

दो बाँके

[भगवती चरण वर्मा]

हिन्दी के उपन्यास और कहानी-लेखकों में श्री भगवतीचरण वर्मा अपनी जिन्दादिली अथवा भाव-प्रवणता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके वस्तु एवं विषय के संकलन और चुनाव में बड़ी उद्भावना और बाँकापन रहता है। कथानक के प्रसार में जहाँ संवादों का अवसर

आ जाता है वहाँ प्रवाह के साथ यथार्थता का अच्छा चमत्कार दिखाई पड़ता है। भाषा को विषय के अनुरूप सजा देना और वाक्यांशों में यथा-स्थान आवश्यक बल को केन्द्रित कर देना इनकी अपनी विशेषता है। यह सौन्दर्य उपन्यास और कहानियों में सर्वत्र समरूप से प्राप्त होता है।

सामान्य से विषय को लेकर एक खासी कहानी कह डालनेवाली पटुता इस रचना में मिल जाती है। यहाँ लखनऊ की नाक—शोहदों और उनके सरगनों का सच्चा चित्र खींच दिया गया है। जनानों के शहर की एक बारीक बहादुरी का आँखदेखा विवरण उपस्थित कर लेखक ने अपने तत्पर चित्त पर पड़ी छाप का अच्छा प्रदर्शन किया है। बाँकों के स्वरूप-विन्यास में लेखक ने सूक्ष्म अध्ययन का पूरा परिचय दिया है—एक खासा चित्र सामने ला खड़ा किया है। इसी तरह खान्दानी नवाब इक्केवान के संवाद में भी बाँकों सजीवता उत्पन्न कर दी है। सारी कहानी में यथार्थता अनुस्यूत है और लखनवी समाँ का अमिट वैभव भरा है।

लखनऊ के बाँकों की इस विरुदावली के तारतम्य में 'प्रसाद' के गुण्डे को सामने रखकर चलने से एक अद्भुत चमत्कार पैदा होगा और दो शहरों का चरित्र्य पूर्णतया प्रकाशित हो उठेगा। इससे लखनऊ के प्रति सच्ची सहानुभूति प्रकट होगी और साहित्यिकता भी पूरी तरह जगेगी।

जय-दोल

[अज्ञेय]

रचना-विधान की परम्परागत पद्धतियों से पूरा पड़ता न पाकर आज के कुछ नवोद्भूत कलाकार नवीन प्रयोगों की ओर जो प्रवृत्त हो रहे हैं उससे भाषा और साहित्य का भाण्डार अधिक समृद्ध हो रहा है। संभव है इन नवोन्मेषमयी विविध भंगिमाओं के सौन्दर्यास्वादन में अभी कुछ व्याघात पड़े और विषयस्थापन की वक्रता से अपरिचित होने के कारण सामान्य पाठक पूरा-पूरा आनन्द न प्राप्त कर सकें, अथवा रचना को ध्यानपूर्वक एक से अधिक बार पढ़ना पड़े; पर

इन लेखकों की रचनात्मक गति-विधि को समझ लेने पर बात ऐसी नहीं रहेगी। प्रयोगवाद के इन प्रेमियों को भी थोड़ा सावधान होकर लिखना होगा और शाब्दी व्यंजना का अभाव बचाना पड़ेगा अन्यथा अन्धकार में गड़बड़ होने का भय है।

श्री 'अज्ञेय' अब तक कहानी और उपन्यास-रचना के क्षेत्र में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। उनकी इस कहानी में इतिवृत्त उपस्थित करने की नवीन प्रणाली दिखाई पड़ेगी। आरम्भ में तो प्रदेशगत यथार्थ चित्रण का सौन्दर्य है और कथा साधारण गति से चलकर परिस्थिति की विशेषता में परिणत हो जाती है। लेफ्टिनेंट सागर धुंधली-सी दिखाई पड़ने वाली इमारत में—थका-थकाया पहुँचकर अपनी आकांक्षाओं और भावनाओं में लिपटा हुआ तंद्रिल हो उठता है। फिर तो गत इतिहास की बातें क्रम से घटित होती हुई-सी दिखाई पड़ती हैं और जय-दोल की निर्मिति का सम्पूर्ण वृत्त साकार होकर उसके सामने खड़ा हो जाता है। गत का यही वर्तमानीकरण सौन्दर्य का विषय है—एक कहानी के भीतर दूसरी कहानी है।

तीन सौ चौबीस

[उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' हिन्दी के अत्यन्त परिचित लेखकों में हैं, उनकी कहानियाँ और नाटकीय रचनाएँ विशेष ध्यान से देखी जाती हैं। विषय के निर्वाचन और भाषा की सफाई पर इनका ध्यान अधिक दिखाई पड़ता है क्योंकि सर्वत्र इनकी भाषा एक-सी हुई है और विषयान्तर्गत मानव की मनोवृत्तियों की सूक्ष्म बारीकियों के चित्रण और विश्लेषण में इनकी रुचि पाई जाती है। 'डाची' इनकी अति पठित कहानी है। उसमें बाकर की मन:स्थिति तक पाठक को पहुँचाने की तत्परता लेखक में मिलती है। यही इस कहानी '३२४' में भी है। हैदर में प्यानो के वजन का विचार तो आया पर अपने घर की बेबसी की तस्वीर भी सामने खिंच गई; और फिर बोझा

ढोने के लिये उसने 'हाँ' कर दिया, अब कैसे मुकर जाए? 'अब इनकार कर उस सुन्दर लड़की की नजरों में दुर्बल बनना उसे स्वीकृत न था।' इसीलिए वह बलिष्ठ युवक उस सुन्दरी की सामान्य सहानुभूति प्राप्त कर सकने की आकांक्षा में मर मिटा। अन्त तक अपनी आन पर डटा रहा।

इस प्रकार एक ओर कुशल लेखक ने यह दिखाया है कि दारिद्रय से पीड़ित जन किस प्रकार जान पर खेलकर पैसा कमाने में निरत होता है, और दूसरी ओर यह भी संकेत किया है कि हृदय की एक साधारण-सी ढरन मनुष्य को अतिमानव बना देती है। कुमारी वाल्टन के 'युवा हृदय में इस कुली के लिए सहानुभूति का समुद्र उमड़ आया। बहादुर से, सुन्दर से हमदर्दी हो जाना स्वाभाविक है और फिर युवा रमणी के हृदय में—' आगे चलकर हैदर के पुरुषार्थ और हिम्मत को देखकर यह भाव कुछ रंगीन हो उठता है—'इस बहादुर कुली पर निसार होने के लिये उसका हृदय बेताब हो उठा।' अन्त में मंजिले मकसूद पर पहुँच कर जब हैदर बेहोश हो जाता है तब—'अपने रेशमी रूमाल से उसके मुख का पसीना पोंछते हुए कुमारी वाल्टन ने क्षणिक आवेश के वश उसके गोरे मस्तक को चूम लिया।' प्राण देकर हैदर ने यह चुम्बन कमाया है और वह सुन्दरी भाग्य के इस कठोर विधान पर हैरान-सी भौचक्की-सी निर्निमेष हो जाती है। हैदर की आन-प्रियता में जो विवशता है अथवा सुन्दरी वाल्टन की सहानुभूति में जो अनुराग का कण रंजित हो उठा है वही कहानी का केन्द्र बिन्दु है।

कुत्ते की पूंछ

[यशपाल]

उपन्यास और कहानी-लेखक के रूप में श्री यशपाल का बड़ा यश है। उनमें यथार्थ वस्तु की लपेट में व्यावहारिक तथ्यों के उद्घाटन की अपूर्व क्षमता दिखाई पड़ती है। उन्होंने अनेक साधारण

विषयों को लेकर इस मार्मिकता से कथानक को गढ़ दिया है कि उसके भीतर कुछ मर्म, कुछ विचार और कुछ चमत्कार की वात झलक उठी है। दैनिक जीवन और मध्यमवर्ग के कौटुम्बिक और सामाजिक विचार-भाव की विविध भंगिमाओं के प्रकाशन की ओर उनकी विशेष अभिरुचि दिखाई पड़ती है।

इस कहानी के आरम्भ में मध्यमवर्गीय पति-पत्नी के सम्बन्ध की यथार्थ व्यंजना मिलती है जिसमें काल्पनिक भावुकता से भरे संवादों का सर्वथा अभाव रहता है। आगे चलकर श्रीमतीजी की साम्यमूलक विचारधारा कहिए अथवा वात्सल्य-मूलक ममत्व की पूरी झलक आती है। उस दीन छोटे बच्चे के प्रति सहसा उनका जो अनुराग उमड़ पड़ा है उसमें महिला-सुलभ कोमलता ही प्रकट होती है। उसी भावुकता के फेर में पड़कर उन्होंने उस लड़के का भरण-पोषण ठीक अपने पुत्र की तरह किया और नाना प्रकार से उसे भलामानुस बनाने की पूरी चेष्टा की, पर संस्कार-विहीन वह लड़का जहाँ-का-तहाँ रह जाता है। धीरे-धीरे उस देवीजी का मन भर जाता है और उनका अव्यावहारिक आदर्श-ममत्व कमजोर पड़ता-पड़ता कुंठित हो उठता है। वह लड़का अन्त में निकम्मा ही सिद्ध होता हैं। कुत्ते की पूँछ चेष्टा करने पर भी सीधी नहीं की जा सकती। कहानी का मूल निष्कर्ष अन्तिम पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है।

द्वन्द्व

[विष्णु प्रभाकर]

कहानी के नवीन लेखकों में विष्णु प्रभाकर की रचनाओं में अच्छा द्रावक प्रभाव दिखाई पड़ता है। करुण-भावना को जगाने के लिए जिस प्रकार का इतिवृत्त और उपादान वे संग्रह करते हैं उसमें युगधर्म जीवित रहता है। विषय के निर्वाचन में—देशप्रेम और अकाल-प्रेरित दारिद्रय का उद्घाटन ही मुख्य है; पर हृदयस्पर्शी करुणाशीलता और अन्तर्वृत्तियों के निराकरण की ओर लेखक ने बड़ी तत्परता दिखाई है। उनकी विभिन्न कहानियों में एक तत्व प्रायः

वर्तमान मिलता है—मानवता। मनुष्य की सहज वृत्ति यही मानवता है। जगत् के नानात्व से उत्पन्न हुए अनेक पृथकताबोधक भावों का संघर्ष रहने पर भी मूलतः मनुष्य अपनापन नहीं त्यागन करता और दया-करुणा, ममत्व-सौजन्य आदि सात्विक वृत्तियों से प्रेरित होकर उसकी बुद्धि मंगलोन्मुख हो उठती है।

'द्वन्द्व' कहानी में लेखक ने जैसा इतिवृत्त सामने रखा है उसमें कुछ लोगों को एकदेशीयता और कालविशेषत्व की परिस्थिति बाधक मालूम पड़ सकती है, पर आद्यन्त अनुस्यूत मानव-प्रकृति की ऐसी तरलता भी झलक रही है जो न तो काल से बाँधी जा सकती है न किसी देश-विशेष से। सुजाता मानवीय उद्रेक की मूर्तिवत् दिखाई पड़ती है। अकाल-पीड़ितों की कठोर दुर्दशा चित्रों द्वारा देखकर उसके हृदय के सब तार एक साथ ही झंकृत हो उठे और उसी उद्वेग की अभिव्यक्ति पति-पत्नी के एकान्त संवाद में झलकी है। वेदना की अनुभूति उसमें इतनी तीव्रता से जगी है कि उस संवाद के बौद्धिक नियंत्रण से दब नहीं सकी है। दूसरे दिन प्रातःकाल की उसकी मुद्रा और बच्चों के प्रति प्रकट किए गए रोष में वही अनुभूति भरी मिलती है। वह अपने पति की बुद्धिजन्य निर्लिप्तता में किसी प्रकार का योग नहीं देती और उसके आफिस चले जाने पर घरेलू वातावरण में डूबने की एक बार चेष्टा भी करती है कि मूल बात को ही मन से निकाल दे, पर सहसा अनन्त को पुनः आया पाकर वह काँप उठती है। अन्त में उत्पन्न हुए द्वन्द्व को सामने रखना ही इस कहानी का अभिप्राय है। एक ओर अकाल की विभीषिका है तो दूसरी ओर लड़कों का मूँड़न। माता का हृदय लड़कों के मूँड़न में ममत्व देखता है पर नारी की उदारता आगे बढ़कर बुभुक्षार्त की करुण पुकार तक पहुँचती है। मूँड़न के स्थान पर सहानुभूतिपूर्ण दान को पाकर वह पिघलकर हर्षित होती है और तभी उसकी आन्तरिक वेदना समाप्त होती है। सुजाता और सोमेन का द्वन्द्व भी प्रतीकात्मक है—हृदय और बुद्धि का द्वन्द्व।

—×—

परिशिष्ट

(ग)

अनुक्रमणिका